शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अगस्त : १९६४☆ वर्ष २० वाँ, अषाढ़-श्रावण, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ३

सर्व दु:खदमन का अमोघ उपाय

जब युद्ध से वैराग्य प्राप्त करके बाहुबलि ने दीक्षा ग्रहण की, तब उनकी हजारों रानियाँ भी दीक्षा लेने के लिये भगवान के समवसरण में चली गईं... और भरत चक्रवर्ती के महल में हाहाकार छा गया। उस समय दु:ख की शांति के लिये भरतराज ने क्या किया? उस समय महाराजा भरत मन में विचारने लगे कि—

संसार में कोई भी दु:ख क्यों न आये! किंतु परमात्मा की भावना उन सब दु:खों को दूर कर देती है; इसलिये आत्मभावना करना योग्य है।—ऐसा विचारकर उन्होंने नेत्र मूँद लिये और वे आत्मनिरीक्षण करने लगे... और उनके चित्त में व्याप्त दु:ख न जाने कहाँ चला गया! वास्तव में निजपरमात्मा का दर्शन सर्व दु:ख दमन का अमोघ उपाय है।

—'भरतेश वैभव' से

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२३१]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

— नया प्रकाशन —

श्री समयसारजी परम अध्यात्म-शास्त्र

(तीसरी आवृत्ति)

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र, श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो, वह सर्वोत्तम मानी जाती है। जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की है, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता, और स्वतंत्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकांत, ४९ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्यसाधक भाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचंद्राचार्य की सर्वोत्तम संस्कृत टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद, तीसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुंदर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें, इसी भावनावश इस ग्रंथाधिराज का मूल्य मात्र ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार की है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[नोट—यह शास्त्र बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, सागर, उज्जैन, विदिशा, लश्कर, इन्दौर, उदयपुर, गुना, अशोकनगर, मदनगंज आदि गाँवों में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा प्राप्त हो सकेंगे।]

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अगस्त : १९६४☆ वर्ष २० वाँ, अषाढ़-श्रावण, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ३

कहान वाणी के कण

['अष्टप्राभृत' प्रवचनों से]

— रत्नत्रय की आराधना में स्वद्रव्य का ही सेवन है, परद्रव्य का सेवन नहीं है। जो जीव ऐसे रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आराधक है और ऐसे आराधक जीव रत्नत्रय की आराधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करते हैं—यह बात जिनमार्ग में प्रसिद्ध है। रत्नत्रय की आराधना पर के परिहारपूर्वक आत्मा के ध्यान से होती है।

— जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वह सिद्ध है। सम्यग्दर्शन का आराधक जीव अल्प काल में सिद्धि प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शनरहित जीव इष्टसिद्धि को प्राप्त नहीं होता।—इसप्रकार मोक्ष की सिद्धि के लिये सम्यग्दर्शन की आराधना प्रधान है।

मोक्षमंडप में सिद्धों को निमंत्रण

[तारीख २६-३-६३ को चोटीला से प्रस्थान करके पूज्य स्वामीजी
मोरबी पधारे थे..... उल्लासपूर्ण स्वागत के पश्चात् कर्ताकर्म
अधिकार का प्रवचन किया था, उसका संक्षिप्त सार]

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तू आत्मा है... तेरी जाति सिद्ध परमात्मा जैसी है। राग और विकार तेरी सच्ची जाति नहीं है। सर्वज्ञता और पूर्ण आनंद तेरे स्वभाव में भरे हैं, उसी में से वे प्रगट होते हैं।

समयसार की पहली गाथा में 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' कहकर परमात्मा की विनय की है। अहो! जिन्हें पूर्ण ज्ञान-आनंद प्रगट हुआ है, ऐसे अशरीरी चैतन्य परमात्मा हैं, उन्हें हम अपने ज्ञान की दशा में स्थापित करके बहुमान करते हैं, उनका सत्कार करते हैं; और उनसे विरुद्ध ऐसे परभावों का आदर ज्ञान में से निकाल देते हैं। अभी तक ऐसे अनंत सिद्ध भगवंत हुए हैं। आत्मा की सिद्धदशा को साधने के लिये साधकभाव का काल असंख्य समय का ही है। एक चौबीसी के असंख्यात समय हैं, उसके भी असंख्यातवें भाग के काल में निर्विकल्प चैतन्य के वेदन से आत्मा की परमात्मदशा साधी जा सकती है। साधकभाव का काल असंख्य समय का ही होता है।

अहो, जिन्हें पूर्ण परमानंददशा प्रगट हुई, उनका जिसके अंतर में आदर है, ऐसा जीव इस समयसार का श्रोता है। जिसे चैतन्य की पूर्णानंददशा की जिज्ञासा हो, वही इस समयसार का श्रोता है। उसे आचार्यदेव चैतन्य की अपूर्व बात समझाते हैं। धर्मात्मा, सिद्ध भगवान को पहिचानकर अपने आत्मा में उस सिद्ध परमात्मपद प्रगट करने का प्रस्थान रखते हैं—आत्मा में सिद्धपद की स्थापना करते हैं। क्रमशः स्वरूप का श्रवण और मंथन करते-करते उसकी भावना द्वारा सिद्धपद का काल आयेगा।—ऐसी सिद्धपद की स्थापना वह अपूर्व मंगल है।

जिसप्रकार किसी शुभ अवसर पर अपने सगे-सम्बन्धियों को मंडप में आमंत्रण दिया जाता है, उसीप्रकार साधक जीव, मोक्ष की साधना के अवसर पर कहते हैं कि—हे सिद्धों! हे परमेष्ठी भगवन्तों! मैं अपने आत्मा में आपका सत्कार करता हूँ; अपनी मोक्षदशा को साधते हुए मैं आपको अपने साथ रखता हूँ। प्रभो! आपने सिद्धपद प्राप्त कर लिया है... और मुझे प्राप्त करना है... प्रभो! आप तो सिद्धालय से नीचे नहीं आयेंगे... किन्तु मैं आपको अपने हृदय में स्थापित करके सिद्धपद में आ रहा हूँ।

देखो, यह ज्ञानी की दशा! अतीन्द्रिय आनंद में निमग्न होकर जिन्होंने विभावरूप कर्ताकर्म का नाश किया और जो सिद्धपद को प्राप्त हुए—ऐसे सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करके आचार्यदेव ने यह कर्ताकर्म अधिकार प्रारम्भ किया है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है; चैतन्यस्वरूप आत्मा तथा क्रोधादिभावों में सचमुच एकता नहीं है, किंतु अज्ञानभाव से एकता मानकर अज्ञानी जीव, क्रोधादि के कर्तारूप से परिणमित होता है, वह मिथ्यात्व और संसार है। और भेदज्ञान द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा को क्रोधादि से पृथक् जानना, वह मोक्ष का मूल है। धर्म कोई ऐसी अपूर्व वस्तु है कि जिसके क्षणमात्र के सेवन से भनक आ जाती है कि अब हमारी मुक्ति की नींव दृढ़ हो गई है... अब हम अल्प काल में संसार से छूटकर सिद्धदशारूप परिणमित हो जायेंगे।

अहो, इस चैतन्य का लक्ष करके उसके पक्षपूर्वक जिसने निरुपाधि स्वभाव को स्वीकार किया, वह अवश्य मुक्ति प्राप्त करेगा। चैतन्य का प्रेम जागृत करके जो उसकी कथा सुनेगा, वह जीव भविष्य में राग और चैतन्य की संधि करके मोक्ष को साधेगा।—यह बात श्री पद्मनन्दि मुनि ने 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में कही है। श्रीमद् राजचंद्रजी ने 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' को 'वन शास्त्र' कहा है। देखो, आत्मा में इस बात को समझने की शक्ति है। जिसे जिज्ञासा होगी, वह अवश्य समझ लेगा। चैतन्य का सच्चा जिज्ञासु जीव अपार प्रयत्न से चैतन्य को समझ ही लेता है, यह बात समझ में आ सके, ऐसी है और उसे समझने से ही कल्याण है।

वस्तु स्तवन

[आत्मार्थी, सरदार शहर – राजस्थान]

ज्ञान स्वयं महावीर है, आत्म सुदर्शन धार,
ज्ञायक स्वयं आप है, अपनी ओर निहार॥

विश्व मर्यादा अटल है, नहिं कोई पलटनहार,
ज्ञाता बन बन सुखी थया, आपा समझनहार॥

नाँ कोई पर का कर सके, नाँ पर से कोई होय,
स्वयं किये बिन नाँ रहे, विश्व नियम यह जोय॥

ल्यायाँ भाव आवे नहीं, धक्के से नहिं जाय,
करना पर का क्या रहा, समझो सम्यक् न्याय॥

शरणार्थी पर लक्ष है, करे राग उपयोग,
आत्मार्थी स्व लक्ष है, करे ज्ञान उपयोग।

खुद तो निमित्त बनावताँ पर से संबंध रचाय,
दोष निमित्त का मानता कुछ भी समझे नाँय।

देख पराई झोंपड़ी, मत उसमें लपटाय,
आतम को समझाय कर अपने घर में आय॥

नदी नीरवत् अज्ञ घन, हर कोई हर लेत,
कूप नीरवत विज्ञ धन, गुणबिन बूंद न देत॥

शांति निज कर्तव्य है, लक्ष रखो निज माँय,
बाहिर अपना क्या धरा, अपना अपने माँय॥

अपूर्व वार्ता सुनने से ही आनंद

हे भव्य! तूने अपनी महानता नहीं समझी। तू अशरीरी, अरागी, अतीन्द्रिय-ज्ञानस्वरूप है, इस स्वभाव से विपरीत पुण्य-पाप, रागादि और उनमें कर्तृत्व का ममत्व छोड़कर निर्णय कर कि मेरा ध्रुव ज्ञायकस्वभाव अकेला ही पूर्ण आनंदस्वरूप है। मैं देह, रागादिरूप नहीं हूँ, इसलिए उनका आश्रय करने में मेरा हित नहीं है। अहो!! मेरा आत्मा ही उत्तम, मंगल और शरणरूप है, उसमें स्वाश्रय की दृष्टि लगाये बिना अन्य किसी प्रकार से कल्याण नहीं होता।

अंतरंग में अपनी महानता देखने से ही असत्य का आग्रह छूटता है, नित्य शरणरूप निज परमात्मा में आश्रय और विश्राम मिलता है।

जिस भूतार्थस्वरूप से अपना कल्याण हो, उसको तूने अपनाया नहीं और जिस रागादि व्यवहार से कभी कल्याण न हो, उसको तूने कभी छोड़ा नहीं। अतः हे भव्य! यदि तुझे अपना हित करना है तो व्यवहार-निमित्त का पक्ष अर्थात् उनके आश्रय से लाभ मानने की वृत्ति छोड़, हितस्वरूप चैतन्य में दृष्टि कर, उसका ही आश्रय कर, चैतन्यस्वभाव नित्य ही पास में और प्रत्यक्ष होने से उसका अवलम्बन लेना सुगम है, इसका आश्रय करने से ही तेरा कल्याण होगा, इस अपूर्व वार्ता को रुचिपूर्वक सुनते ही भव्य जीव आनंदित हो जाता है।

अपने को सीख

ज्ञान समान न आन जगत में सुख कौ कारन,
यह परमामृत जन्म जरा-मृत रोग निवारन;
विषय चाह दवदाह जगतजन अरनि दझावै,
तास उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै॥

यह राग आग दहै सदा, तातें समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निजपद बेइये॥
कहा रच्यो परपद में न तेरो, पद यहै क्यों दुख सहै।
अब 'दोल' होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चूको यहै॥

साध्य-साधन की सुसंबद्धता

['पंचास्तिकाय' गाथा १७२ पर, पूज्य स्वामीजी का दोपहर का प्रवचन]

(राजकोट, तारीख ४-५-६२)

ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि तथा प्रयोजन में महान अन्तर होता है

इस पंचास्तिकाय शास्त्र में विश्व के छह द्रव्यों का यथार्थ निरूपण किया है। श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवान ने अपनी अचिंत्य निर्मल ज्ञानशक्ति द्वारा छह प्रकार के द्रव्य जाने और देखे हैं तथा उनका उपदेश दिया है।

इन छह द्रव्यों में एक जीव नाम का पदार्थ (द्रव्य) है। यह जीव पदार्थ कैसा है ? वह आचार्यदेव ने समझाया है। आत्मा (जीव) अनादि-अनंत है, तथा उसमें ज्ञानादि अनंत शक्तियाँ हैं, वे भी सत्तात्मक हैं, अनादि-अनंत हैं। यह सब शक्तियाँ आत्मा के आधार से स्थित हैं। परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों के आधार से कोई शक्ति नहीं है। जिसप्रकार मिश्री की मिठास का आधार मिश्री है, डिब्बा नहीं है; उसीप्रकार आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानादि गुणों का आधार आत्मा है। शरीर, शुभाशुभराग, विकल्प या निमित्त के आधार से कोई गुण स्थित नहीं हैं।—इसप्रकार ज्ञानादि अनंत गुणों का धारक ऐसा यह आत्मा विकल्प अर्थात् राग द्वारा नहीं समझता। आत्मा, द्रव्य इन्द्रियों के या बुद्धि के विकास द्वारा प्रतीति में और संवेदन में आये ऐसा नहीं है।

जिसप्रकार कोई जौहरी सच्चा-पानीदार मोती देखकर प्रसन्न होता है और कहता है कि—'कैसा पानीदार मोती है। मानों लहरें उठ रही हैं ? फिर पास ही बैठे हुए एक किसान से कहता है कि—'मुझे प्यास लगी है, पानी दो।' यह सुनकर किसान कहता है कि—'आपके पास मोती में पानी भरा है तो फिर मुझसे क्यों माँग रहे हैं ?' अभी जो जौहरी अपने आनंद में मग्न है; वह कहता है कि—'भाई ! इस मोती में तो समुद्र हिलोरें ले रहा है !' तब किसान कहता है कि—'लो, यह मेरी चादर भिगो दो तो जानूँ कि मोती में सचमुच पानी है।'—इसप्रकार मोती की परख करनेवाले जौहरी को मोती में पानी की लहरें दिखायी देती हैं; परन्तु जिसे मोती की परख नहीं है—ऐसे किसान को पानी दिखायी नहीं देता। उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानदर्शनादि अनंत गुण विद्यमान हैं, किंतु जो उन्हें नहीं जानता तथा उनकी श्रद्धा नहीं करता और वर्तमान अल्पज्ञता एवं अंश पर अथवा राग की क्रिया पर दृष्टि होने से, पूर्ण ज्ञान-आनंद स्वभावी कौन है, उसका

मूल्यांकन नहीं कर सकता, वह आत्मा को रागी, द्वेषी, मोही ही जानता है; क्योंकि उसके अनुभव में वैसा अशुद्ध आत्मा ही आता है। भेदज्ञानी जीव के अनुभव में शुद्ध आत्मा आता है।

चैतन्य जौहरी जानता-देखता और अनुभव करता है कि—आत्मा ज्ञानानंद का सागर, राग-द्वेष-मोह तथा गुण-गुणी भेद आदि सर्व विकल्पों से पार है। मोती का मूल्य न समझनेवाले किसान की भाँति अज्ञानी जीव अतीन्द्रिय सहज ज्ञानमय आत्मा का माप नहीं निकाल सकता। वह शरीर की क्रिया और राग के विकल्पों द्वारा आत्मा को समझने का वृथा प्रयास करता है। वर्तमान दशा में अल्पज्ञान तथा राग-द्वेष होने पर भी ज्ञानी उसे उपादेय नहीं मानते; वे वृत्तियों को एक समयपर्यन्त क्षणिक विभाव अंश समझते हैं। दया, दान, विनय आदि की शुभ या अशुभ वृत्तियाँ आयें किंतु उनके स्वामी नहीं बनते। मैं वृत्तियों से पार असंग ज्ञानरूप हूँ—ऐसे भानसहित हैं, इसलिये रागसहित अवस्था होने पर भी शुद्धनय द्वारा अव्यक्त अतीन्द्रिय पूर्ण स्वरूप का विचार कर सकते हैं तथा अंशत: स्वसंवेदन आनंद का अनुभव करते हैं। वर्तमान दशा में ज्ञान का अल्प विकास होने पर भी अंतर में अप्रगट शक्ति से अपार ज्ञान भरा है—ऐसा विचार करके पूर्ण ज्ञानस्वभाव हो जाया जा सकता है। जैसे कि विश्व में आकाश क्षेत्र का विस्तार कितना अनंत है! उसका विचार करने पर ज्ञात होता है कि—सर्व क्षेत्र में आकाश की अनादि-अनन्तता है। उसकी कोई मर्यादा या अंत नहीं बतलाया जा सकता, तथापि अल्प ज्ञानी के ज्ञान में अमर्यादित अनंत क्षेत्र को दशों दिशाओं में अनंतरूप से जानने की शक्ति वर्तमान में भी है। इसप्रकार रागवाला अल्प ज्ञान भी अनंत आकाशक्षेत्र को समझ सकता है। यदि आत्मा, उसके प्रगट ज्ञान का अंश इतने सबको जान सकता है और याद रख सकता है, प्रगटरूप से वह अपनी उतनी अपार शक्ति को बतला रहा है तो उसके अप्रगट अन्तरंग ज्ञानानंदस्वभाव की अपार शक्ति है;—इसप्रकार एक क्षण में अपने अपार सर्वज्ञस्वभव को जानकर, मैं ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसा नि:संदेह निर्णय कर सकता है।

वर्तमान अवस्था में रागादि होने पर भी उसका कर्ता या भोक्ता न होकर, मैं तो ज्ञातादृष्टा (साक्षी) हूँ, शाश्वत एकरूप पूर्ण ज्ञानस्वभावी हूँ—इसप्रकार उसमें एकाकार दृष्टि तथा एकाग्रता करने से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान एवं अंशत: शांति प्रगट हो, वही वास्तविक धर्म है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, वही प्रारम्भ से स्वाश्रयरूप निश्चय धर्म है। स्वोन्मुखता के पुरुषार्थ में चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान स्थित जीव को अपनी भूमिकानुसार शुभराग आये बिना नहीं रहता। उस शुभराग को उपचार-व्यवहारधर्म अथवा स्थूल धर्म कहा जाता है; वह शुभराग (व्यवहाररत्नत्रय)

धर्म नहीं है; परंतु जहाँ अमुक अंश में वीतरागतारूप निश्चयधर्म है, वहाँ बाह्य में ऐसा शुभराग होता है—ऐसा निमित्त बतलाने के लिये शुभराग को असद्भूतव्यवहारनय द्वारा धर्म अथवा साधन कहा जाता है। देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति, दया, दान, महाव्रतादि का शुभराग भूमिकानुसार आये बिना नहीं रहता; इसलिये ऐसे शुभराग का निमित्तरूप से निषेध नहीं है परंतु उसे मोक्षमार्ग मानने का निषेध है। पुरुषार्थ की मन्दता के समय ज्ञानी को प्रायः शुद्ध स्वभाव का वेदन गौण है। धर्मी-ज्ञानी जीव अशुभ से बचने के लिये शुभ का अवलंबन लेता है, परंतु उसे हितकारी या सहायकरूप में नहीं मानता; वह पुण्य बंध का कारण है, ऐसा उसका स्पष्ट अभिप्राय होता है।

वर्तमान में शरीर और रागादि होने पर भी आत्मा तो ज्ञानानंदस्वरूप है, वह रागरूप या शरीररूप नहीं हो जाता। जिसप्रकार गुड़ का बड़ा ढेला मिठास से भरपूर है, उसमें दरार में से मीठा रस निकलता है, उसीप्रकार आत्मा नित्य ज्ञानानंद का पिण्ड है; उसमें एकमेकपने की प्रतीति-श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता होने से अतीन्द्रिय आनंद का रस झरता है। साधकदशा प्रगट होने के साथ ही पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती; किंतु बीच में चौथे-पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में स्थित जीव को बीच में आ जानेवाली शुभराग की वृत्ति का उत्थान (व्रत, तपादि) होता है; उसे व्यवहाररत्नत्रय-व्यवहार धर्म कहा जाता है।

परंतु जिन्हें निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है; शुद्धात्मासन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनंद रस का स्वाद नहीं चखा है, राग से—निमित्त से निरपेक्ष अपना निर्विकल्प तत्त्व का ज्ञान, आश्रय तथा अनुभव नहीं है, वे अपने माने हुए व्रत, तपादि का आचरण करते हैं; **शुभराग में शुद्धि का अंश-संवर-निर्जरा मानते हैं और इसप्रकार व्यवहार करते-करते अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त होगा—ऐसी मिथ्याबुद्धि द्वारा भ्रान्ति का ही सेवन करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।**

हम सर्वज्ञ-वीतराग को मानते हैं; वे ही अठारह दोष रहित सम्पूर्ण निर्दोष परमात्मपद को प्राप्त हैं; दूसरे को हम परमात्मा नहीं मानते। किंतु ऐसे परमात्मा की भक्ति भी राग के बिना नहीं होती। ज्ञानी को भी ऐसा राग आता है; वह भक्ति का राग शुभवृत्ति है; उससे कल्याण माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी विनयभाव से बोले कि—अहो! धन्य प्रभु! आपकी भक्ति मुझे मुक्ति का कारण बने। तो उसका अर्थ यह है कि—सचमुच ऐसा नहीं है; भगवान और उनकी ओर का राग मुक्ति का सच्चा कारण नहीं है, किंतु अशुभ से बचने के लिये इसप्रकार का राग निमित्तरूप होता है। चारित्र में अस्थिरता के कारण ज्ञानी को भी भूमिकानुसार व्रत, तप, भक्ति आदि का राग आता है

किंतु उसे पुण्यबंध का कारण जानते हैं, निश्चय से उपादेय नहीं मानते। स्वरूप में स्थिर होकर उससे निवृत्त ही होना चाहते हैं। साधक विनय से कहता है कि हे भगवान! आप निज शुद्धात्मशक्ति में एकाग्र होकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, उसीप्रकार मैं भी स्वोन्मुख होकर मोक्षदशा प्रगट करूँगा। मोक्ष साधना के आदि-मध्य-अन्त में एक ही सच्चा कारण है।

जहाँ निश्चय से अभिन्न साध्य-साधन हो, वहाँ भिन्न साध्य-साधन का व्यवहार लागू होता है। भिन्न साधन अर्थात् निमित्त, पररूप संयोग, पराश्रयरूप भेद। केशर रहित खाली डिब्बा हो तो उसे 'केशर का डिब्ब' ऐसा नाम नहीं दिया जाता, उसीप्रकार निश्चय के अनुभव बिना निर्विकल्प शुद्धदशा अंतशः प्रगट किये बिना अकेले शुभराग को व्यवहार से भी व्यवहाररत्नत्रय-व्यवहार साधन, निमित्त—ऐसा नाम नहीं मिलता।

परमार्थतः साध्य-साधन अभिन्न ही होते हैं, भिन्न होते ही नहीं। शुभरागरूप व्यवहार साधन और शुद्धता (आत्मा की) साध्य-ऐसा कथन कभी आये तो वह उपचार निरूपण है—सत्यार्थ निरूपण नहीं है। राग से रागरहित नहीं हुआ जा सकता; विष खाने से अमृत की डकारें नहीं आती, परंतु असद्भूतव्यवहारनय द्वारा उसका निमित्तपना बतलाने के लिये उपचारमात्र का निरूपण किया है—ऐसा समझना चाहिये। **किंतु मात्र (एकान्त) व्यवहारालम्बी जीव इस बात को गहराई से नहीं समझते और 'सचमुच हमें शुभभावरूप साधन से ही शुद्धभावरूप साध्य की प्राप्ति होगी'—ऐसी श्रद्धा का अंतर में सेवन करते हुए निरंतर खेद को प्राप्त होते हैं।**

व्यवहार के कथन को जो वास्तव में निश्चय के अर्थ में मानते हैं, उनसे श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' नामक श्रावकाचार में कहते हैं कि ऐसे जीव उपदेश के योग्य नहीं है। जैसे—कोई पुरुष बिल्ली के निरूप्ण को ही सिंह का निरूपण मानकर बिल्ली को ही सिंह मान बैठे तो वह उपदेश के योग्य ही नहीं है; उसीप्रकार जो पुरुष उपचरित व्यवहार निरूपण को ही सत्यार्थ निरूपण मानकर, वस्तुस्वरूप को—मोक्षमार्ग को अन्यथारूप से समझ बैठे, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है।

सर्वज्ञ भगवान कथित जीवादि छह द्रव्यों का चिंतवन करने में तथा अधिक द्रव्यश्रुत पढ़ने-सुनने से मन में अनेक प्रकार की कल्पनाओं का जाल उत्पन्न होता है और उससे चैतन्यवृत्ति चित्र-विचित्र तरंगरूप से डांवाडोल होती है। तथा कभी छह द्रव्य, नव तत्त्व का चिंतवन करता है, कभी पंच परमेष्ठी के स्वरूप का विचार करता है, कभी भगवान के नाम की जाप जपता है—इसप्रकार

परपदार्थ के चिंतवन में दिन-रात लगा रहता है और उसी को धर्म का सच्चा साधन मानकर कभी रोमांचित हो जाता है और उसी को आत्मा का साक्षात्कार हुआ मानता है; परंतु अपने वीतरागी शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही निर्मलदशा प्रगट होती है—ऐसा नहीं मानता; तो वह कल्पना में संतोष मानता है, इसलिये राग का ही आदर करता है तथा वीतराग का अनादर करता है। आचार्यदेव ने ऐसे जीवों को मिथ्यादृष्टि कहा है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

'यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लयो,
जप भेद जपे तप त्यों ही तपे, उरसें ही उदासी लही सबपैं,
सब शास्त्रन के नव धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये,
वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो,
अब क्यों न विचारत है मन सें, कछु और रहा उन साधन से।'

राग की रुचिवाले को अज्ञानपोषक उपदेशकों की बात रुचिकर लगती है; इसलिये वे राग और पुण्य में धर्म मान बैठे हैं। अज्ञानी धर्म कथा कहता है, तथापि उसकी कथा को सम्यग्दर्शन का नाश करनेवाली 'दंसण भेदिनी' कथा कहा है। अज्ञानी शास्त्र के शब्द धारण कर रखता है, अनेक प्रकार से उनके विकल्प में वर्तता है किंतु राग और निमित्त की अपेक्षा रहित मैं नित्य चैतन्यघन हूँ—ऐसा निर्णय करके चैतन्योन्मुख नहीं होता। अशुभराग को बुरा और शुभराग को अच्छा मानकर राग में ही लाभ मान बैठा है। इसलिये उसे अपूर्व सत्य क्या है, वह समझ में नहीं आता।

प्रश्न—शास्त्र पढ़ने से जब अपने आप समझ में नहीं आता, तो फिर हम शास्त्र किसलिये पढ़ें ?

उत्तर—भाई, धर्मात्मा जीव भी जब अंतर में एकाग्र नहीं रह सकता, तब शास्त्र पढ़ता है, अन्य शुभाशुभरागों में भी युक्त होता है, तथापि वह किसी राग को करनेयोग्य नहीं मानता, हितकारी नहीं मानता।

तेरी दशा में पूर्णता के लक्ष से अतीन्द्रिय आनंदसहित आत्मा का अनुभव हुआ हो तो फिर विशेष अभ्यास द्वारा अतीन्द्रिय आनंद का उफान आना चाहिये। ज्ञानी जीव को पूर्णता के लक्ष से अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव होता है, तथापि विशेष अभ्यास द्वारा ज्ञान की निर्मलता के लिए शास्त्र पढ़ते हैं, सुनते हैं, राग में या पराश्रय में धर्म नहीं मानते। धर्मात्मा जीव जब पूर्णरूप से स्व में

पूर्णतया स्थिर नहीं रह सकते तब ऐसे शुभभाव आये बिना नहीं रहते, किंतु उनसे कल्याण है, ऐसा वे कभी नहीं मानते।

अज्ञानी व्यवहाराभासी है, वह ऐसा मानता है कि—इतना व्यवहार करेंगे तो निश्चय धर्म को प्राप्त होंगे; इसप्रकार राग के आश्रय से हित मानते हैं और मनाते हैं। ज्ञानी को शुभराग उसके अपने काल में आता है, किंतु वह आदरणीय है, हितकारी हैं, ऐसा नहीं मानते। किसी भी प्रकार का राग करनेयोग्य मानते ही नहीं; शुभाशुभ राग का स्वामित्व-कर्तृत्व का सेवन नहीं करते, तथा उसमें फेरफार करूँ—ऐसी आकुलता नहीं है, किंतु अंतर में शांत वीतरागी स्वरूप में स्थिर होना चाहता है—पूर्ण वीतरागी होना चाहता है; स्वोन्मुख सावधानी को पुरुषार्थ मानता है। अंतर में परिपूर्ण निश्चय चारित्ररूप नहीं हुआ है, वहाँ राग उसके अपने क्रम में आता है, किंतु उसमें निरंतर हेयबुद्धि है और पूर्णता-शुद्धता में उपादेयबुद्धि होने से स्वोन्मुखता के बल अनुसार राग का अंश अपने-आप दूर हो जाता है—उत्पन्न नहीं होता।

व्यवहार सर्वथा अभूतार्थ नहीं है, अर्थात् व्यवहार अमुक भूमिका में इसप्रकार का होता है। व्यवहार, व्यवहार से आदरणीय है—ऐसा कहा जाता है, किंतु ज्ञानी के अंतर में उसका किंचित् आदर नहीं होता, क्योंकि सर्वथा सर्व राग का निषेध करनेवाला स्वसन्मुख ज्ञाताभाव जागृत हुआ है इसलिये ज्ञानी को चारित्र में अशक्ति जितना राग होने पर भी वे उस राग में नहीं वर्तते, राग के वेदन में ज्ञानी नहीं हैं। अल्प अशक्ति है, उसे हेयरूप जानते हैं; नित्य अकषाय-स्वभाव के बल में उसकी गौणता है।

एकांत व्यवहाराभासी के शास्त्राभ्यासादि धर्मसाधन व्यर्थ हैं, ऐसा सुनकर कोई अज्ञानी शास्त्रश्रवण, मनन, अभ्यास और धर्म छोड़ देगा तो प्रमादी-स्वच्छंदी होकर, पापबंध करके नर्क-निगोद में चला जायेगा।

कोई धारावाहीरूप से शास्त्रों का पठन-पाठन करता रहे, व्याख्यान दे, परंतु उसका ज्ञान परज्ञेयों में ही रुका रहे तो उसे आत्मा का ज्ञान नहीं कहा जाता।

ज्ञानी को शास्त्रपठन, भक्ति आदि का राग आता है, किंतु उन सब भावों को ज्ञानी पुण्य मानता है, और अज्ञानी उन भावों को धर्म मानता है। जो शुष्कज्ञानी है, वह राग की रुचिवाला होने से स्वच्छन्द में, पाप में वर्तता है। यहाँ उसकी बात नहीं है।

द्रव्यलिंगी साधु, शास्त्र में कहे अनुसार व्रत, तपादि का आचरण करता है, तथापि समस्त

यति-आचार के समुदायरूप तप में प्रवर्तनरूप कर्मकांड की धमाल में अचलित होने से अनेक प्रकार के राग में ही वर्तता है।

भावलिंगी संत तीन कषायों के अभाव सहित हैं; वे चारित्र में अंतर्मुख अतीन्द्रिय आनंद में झूलते हैं; उन्हें परमात्मा की जाति का आनंद उल्लसित होता है। जिसप्रकार, समुद्र में हजारों नदियों का पानी एक साथ आने पर भी भाटे के समय वह उछलता नहीं है, और जब प्रचण्ड ताप सहित सूर्य तप रहा हो, तब भी उसमें ज्वार आता है। इसप्रकार जब समुद्र अपने मध्यबिन्दु से उछलता है, तब चाहे जैसे बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी उसे कोई रोक नहीं सकता। उसीप्रकार भगवान आत्मा अपने मध्यबिन्दु में—अंतरंग शुद्ध-कारण परमात्मशक्ति में—स्वोन्मुख दृष्टि से एकाग्र होने पर अंतर की अपार शक्ति में से अपार शांति का उल्लास पर्याय में प्रगट होता है; वहाँ बाह्य में इन्द्रियों की शिथिलता तथा संयोगों की प्रतिकूलता कभी बाधक नहीं होती।

परंतु जो जीव अपनी इस महिमा को नहीं जानते, वह या तो शास्त्रों के शब्द, विभक्ति, अलंकारयुक्त वाणी में अटकते हैं, या फिर धर्म के नाम से अकेले व्यवहार के आडम्बर में अटके हैं अथवा खान-पान की शुद्धि आदि कर्मकांड की धमाल में पड़े हैं। इसप्रकार स्वतत्त्व को भूलकर पर में एकाकार होते हैं।

राग मंद हुआ हो तो उतना विकार कम होता है या नहीं ?—ऐसा प्रश्न करे तो उसका उत्तर- अज्ञानदशा में राग मंद हो सकता है, किंतु स्वोन्मुखता के बिना राग अंशमात्र भी कम नहीं होता। शुभराग हो तो पुण्य है; परंतु उससे वीतरागतारूप मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म नहीं है। **शुभराग में सत्यार्थ धर्म माना जाये तो मिथ्यात्वरूपी महापाप होता है, क्योंकि शुभराग आस्रवतत्त्व है, बंध का ही कारण है; इसलिये शुभराग से अंशमात्र विकार दूर नहीं होता। परलक्ष से जितना भाव होता है, वह राग है और स्वाश्रय का भाव है, उसमें राग नहीं होता। कषाय मंद करे तो पुण्य होता है, किंतु राग की मंदता से राग का अंशतः भी अभाव किसी काल नहीं होता।**

अरे! जिन्हें अनंत महिमावंत आत्मवैभव का ख्याल नहीं है, अंतर में परिपूर्ण स्वभाव की महिमा और विश्वास नहीं है, वे संयोग और रागादि से लाभ मानकर बाह्य व्रत, तप, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करते हैं और मानते हैं कि—हमने बहुत कर लिया! सचमुच उसमें धर्म नहीं है।

ज्ञानी और अज्ञानी के प्रयोजन में बहुत अंतर है। ज्ञानी जब अपने शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकता, तब उसे व्रतादि का शुभराग आता है; उस पुण्यास्रव की क्रिया को ज्ञानी हेय समझते हैं,

उसे किंचित् आदरणीय नहीं मानते, उसके कर्ता नहीं होते, किंतु ज्ञाता रहते हैं, शुभराग को धर्म नहीं मानते। और अज्ञानी शुभरागरूप व्यवहार को तथा शरीर की क्रिया, व्रत, तप आदि शुभराग के आचरण को धर्म मानते हैं, शुभराग को भला जानते हैं और उसके कर्ता होकर वर्तते हैं। इसप्रकार भ्रम से धर्म के लिए विपरीत मान्यता-मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। पुण्य क्रिया के शुभभाव को निश्चय से विषकुम्भ कहा है, क्योंकि वह आस्रवतत्त्व होने से विष के समान है, अतः उसे संवरतत्त्वरूपी अमृत के साथ मिलान नहीं किया जा सकता।

आत्मा को पुण्य-पाप के संयोग की अपेक्षा नहीं है; वह स्वयं ही निश्चय ज्ञानमय अनंत शांति का सागर है। शुभराग हो, तथापि उसका आश्रय और अपेक्षा मोक्षमार्ग में नहीं है। ऐसे स्वरूप को न समझनेवाले बाह्य में भले ही महान संत, साधु, पंडित, विद्वान, आचार्य नाम धारण करते हों, तथापि वे मिथ्यादृष्टि हैं। राग के कारण वीतरागता प्रगट होती है, ऐसा जो मानते हैं, वे राग के दास हैं, मिथ्यात्व के दास हैं, वीतरागता के जरा भी दास नहीं है।

जैनधर्म की विशेषता

अनेक पाश्चात्य धर्मों के अभ्यासी भारतीय दर्शनों का अध्ययन-अभ्यास करनेवाले जर्मन विद्वान ने जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री (वाराणसी) से प्रश्न पूछा, 'शास्त्रीजी! जैनदर्शन में ऐसी क्या विशेषता है कि जिससे आप उसका अलग अस्तित्व रखना चाहते हो? अहिंसा आदि तो अनेक धर्मों में होती है, इसलिये आप जैनों को किसी विशाल धर्म में मिल जाना चाहिये, अथवा जैनधर्म की ऐसी विशेषता बतलानी चाहिये कि जो अन्य दर्शनों में न मिल सके।'

शास्त्रीजी ने कहा कि 'महोदय! अहिंसा आदि तो धर्म का सामान्य शरीर है, किंतु जैनधर्म का आत्मा (जैनधर्म का स्वरूप) तो इन दो विशेषताओं में है—(१) स्वावलम्बन और (२) व्यक्ति-स्वातंत्र्य, अर्थात् भेदविज्ञानमय तत्त्वज्ञान द्वारा अपने ही बल से प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है।' इसप्रकार जर्मन विद्वान ने जैनधर्म की विशेषता जानकर बहुत प्रसन्नता व्यक्त की।

(सन्मति सन्देश में से)

सहज ज्ञाताभाव में स्वाभाविक सुख

यह आत्मा सुखस्वभावी है, ऐसा अनुभव करने के पश्चात् सत्पुरुष दुःख, भय, अपवित्रता, आत्महीनता, और प्रमादादि पाप इनमें से एक भी अंश सहन नहीं कर सकता, किंतु वह उन्हें ज्ञान, विवेक, वैराग्य द्वारा शीघ्र छोड़ना ही चाहता है। दोष और दुःखों का आधार शरीर नहीं, अपितु जीव की अपनी भूल है।

स्व और पर-वस्तु का स्वरूप, हित और अहित का स्वरूप जैसा है, उसे वैसा जानकर स्वसन्मुख रहे—शरीरादिक को भला-बुरा नहीं माने तो उसके क्रोधादि स्वयं उत्पन्न नहीं होते। अपितु स्वाभाविक ज्ञानधारा के अनुसार सहज सुख उत्पन्न होता है। *(ज्ञानार्णव से)*

कौन किसकी समता करे सेवे पूजे कौन,
किसकी स्पर्शास्पर्शता ठगे किसको कौन,
कौन किसकी मैत्री करे किसके साथ क्लेष,
जहाँ देखूँ वहाँ सर्व जीव शुद्ध बुद्ध ज्ञानेश।

(योगसार)

गर्म से लेकर मृत्युपर्यन्त इस शरीर की सेवा में निरर्थक क्लेश, अपवित्रता, भय, तिरस्कार और पाप से परिपूर्ण परिणाम होते हैं, यह विचारकर पवित्र शाश्वत् ज्ञानस्वरूप आत्मा को उत्तम, मंगल और शरणरूप जानकर उसी की रुचि द्वारा विडम्बनारूप इस शरीर के प्रति स्नेह सर्वथा छोड़नेयोग्य है।

(सुख-दुःख शरीर के नहीं हैं, सुख-दुःख शरीर से भी नहीं है।)

निर्मोह, अशरीर, नित्य, ज्ञानानन्दमय आत्मा के आश्रय द्वारा सर्व विरुद्ध भावों से भिन्न, नश्वर और केवल दुःख का आश्रय स्थान ऐसे इस शरीर का ममत्व छूटे तो आत्मा वास्तविक मुक्तदशा को क्यों न पावे? स्वसन्मुखता के बल से निर्मलदृष्टि प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष अपूर्व मुक्ति के आंशिक आनंद का अनुभव यहीं होता है। अहो! ऐसा कौन मूर्ख है जो देहादि के प्रति ममत्व छोड़ने और स्वरूप ग्रहण करने में प्रमाद करे? शरीर तो वास्तव में नष्ट मनुष्य के मिलाप जैसा है।

(आत्मानुशासन से)

(पंडित बंशीधरजी, एम.ए., बजबज, कलकत्ता)

श्री कानजी स्वामी की अनेकान्त वाणी

(संहितासूरि श्री पंडित नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर)

इस अशांतिपूर्ण भौतिक वातावरण में आत्मधर्म एवं सदाचरण का प्रसार कर जिनशासन की भी महान् प्रभावना करनेवाले और अपने पुण्यशाली तेजस्वी व्यक्तित्व से अगणित व्यक्तियों के जीवन बदल देनेवाले महान आध्यात्मिक सन्त आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस युग की अनुपम विभूति हैं।

आप बाल ब्रह्मचारी हैं। अपनी २४ वर्ष की उम्र से ही संसार से विरक्त रहकर शास्त्राभ्यास और सत्यान्वेषण में लगे रहे। आज से ४० वर्ष पूर्व आपके हाथ में श्री दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्दाचार्य का 'समयसार' ग्रन्थ आया। उस ग्रन्थ को तथा श्री कुन्दकुन्दस्वामी आदि आचार्य के अन्य ग्रन्थों का स्वाध्याय मनन कर आपके ज्ञान नेत्र खुल गये और उनमें अमृत का सरोवर झलकता देख आपके आनंद का पार नहीं रहा।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यस्वामी ने विदेहक्षेत्र में जाकर आठ दिन तक साक्षात् श्री सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि श्रवण की थी, जो श्रवणबेलगोला के शिलालेख, हुमचा, चिकनयकनहल्ली, कुन्दाद्रि आदि कई प्राचीन शिलालेख व आचार्य देवसेन के 'दर्शनसार' आदि से स्पष्ट है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द की रचना का सीधा सम्बन्ध तीर्थंकर प्रभु के दिव्य उपदेश से होने के कारण श्री कानजीस्वामी के हृदय में वीतराग सर्वज्ञ कथित सन्मार्ग के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का होना स्वाभाविक है।

श्री कानजीस्वामी समस्त उपलब्ध प्राचीन श्वेताम्बर-दिगम्बर शास्त्रों का अध्ययन कर चुके हैं। श्री आचार्य समन्तभद्रस्वामी, पूज्यपादस्वामी, अकलंकस्वामी, वीरसेनस्वामी, जिनेसनस्वामी, अमृतचन्द्राचार्य, नेमिचन्द्राचार्य आदि के ग्रन्थों का भलीभाँति स्वाध्याय करने से उनका सब विषय स्मृति में है। आपकी स्मरणशक्ति भी अपूर्व है।

स्वामीजी ने चारों अनुयोग के ग्रन्थों पर प्रवचन किये हैं। जो लोग यह कहते हैं कि 'स्वामीजी आचार्य कुन्दकुन्द की रचना का ही क्यों स्वाध्याय व प्रवचन बार-बार करते हैं? अनेकान्त को समझने के लिये उन्हें समन्तभद्राचार्य आदि की रचनाओं का भी प्रवचन करना चाहिये' यह कहनेवाले बन्धु जिनवाणी के प्रति अपनी अश्रद्धा प्रगट करते हैं। क्या

कुन्दकुन्दस्वामी की रचना में एकान्त भरा है ? वह एकान्त का प्रतिपादन करती है ? जिन बन्धुओं ने समयसार पढ़ा है, उसमें उन्होंने देखा होगा कि शुद्धात्मा का कथन करते हुए बन्ध का भी विशद विवेचन किया गया है। व्यवहार और निश्चय की सापेक्षता और यथास्थल जाननेयोग्य प्रयोजनीयता बतलाई है। उसमें निमित्त और उपादान आदि सभी विषयों का स्पष्टीकरण है। सापेक्षदृष्टि जो अनेकान्त का प्राण है, रखकर ही ग्रन्थ का माहात्म्य अवगत किया जा सकता है।

श्री कानजीस्वामी के जितने प्रवचन हुए हैं, होते हैं और उनका प्रकाशन हुआ है, पक्ष का व्यामोह छोड़कर माध्यस्थ भाव से देखने पर सबमें अविरोधता ही मिलती है। वक्ता के अभिप्राय औ प्रकरणगत संगति को न देखकर विरोध की दृष्टि से कुछ भी कहा जा सकता है।

आजतक जो मर्म की बातें (अध्यात्म शास्त्रों का हृद) विद्वानों तक को नहीं मालूम हो पाई थीं, वे स्वामीजी के प्रवचनों की गहराई पर ध्यान देने से ज्ञात हुईं। पहले इसप्रकार की चर्चा का अवसर ही नहीं मिल सका था। जैनाचार्यों की वाणी के मर्म को हमारे प्राचीन पंडितों ने अवश्य समझा था। आज भी पंडित प्रवर टोडरमलजी, भगवतीदासजी आदि को कुछ लोग एकांती कहते हैं, इसका यही कारण है कि हम लोग ग्रंथों के रहस्य को बारीकी से नहीं पढ़ते।

मैं लगभग १८ साल से सोनगढ़ के सम्पर्क में हूँ। प्रारम्भ में मुझे भी स्वामीजी के प्रवचनों में विरोध का अभास हुआ। इसके फलस्वरूप मैं भी वाद-विवाद में उलझा, परन्तु धीरे-धीरे जब विचार किया और शास्त्रावलोकन किया तो वास्तविकता का ज्ञान हुआ। **वर्तमान में अध्यात्म की ओर इसप्रकार का जनता का झुकाव और स्वाध्याय के प्रचार का श्रेय स्वामीजी को है।**

कतिपय लोगों का यह आक्षेप है कि 'समयसार पढ़नेवाले व्यवहार चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः गृहस्थों को समयसार पढ़ना ही नहीं चाहिए।' यह स्वयं की कमजोरी न मानकर पर को दोष देना है जो जैनधर्म की मान्यता के सर्वथा विरुद्ध है। जिनके संस्कार अच्छे होते हैं, वे समयसार आदि कोई ग्रंथ पढ़कर या उपदेश सुनकर अच्छे ही बनते हैं और जिनके संस्कार अच्छे नहीं होते, वे समयसार या कोई ग्रंथ पढ़कर या उपदेश सुनकर भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

बिना सम्यक्श्रद्धा के आचरण में दृढ़ता नहीं आती। अतः समीचीन श्रद्धा के लिये 'समयसार' एक अपूर्व ग्रंथ है, जिसका प्रत्येक गृहस्थ को पढ़ना अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन का जैसा विवेचन समयसार में किया है, उतना स्पष्ट अन्यत्र नहीं मिलेगा। कतिपय विद्वान तो अभी सामान्य विशेषात्मकता के ही चक्कर में हैं। समयसार की १४-१५ वीं गाथा में और उनकी टीका

में अविशेष आदि पदों की व्याख्या और उसके रहस्य को जाने बिना सम्यग्दर्शन का स्वरूप ही समझ में नहीं आ सकता। बिना सम्यक्त्व के ज्ञान और चारित्र का महत्त्व नहीं है।

समयसार को पढ़कर भी सोनगढ़ के भक्त हजारों भाईयों व बहिनों के आचरण में दृढ़ता पाई जाती है, वैसी हमारे अनेक व्रतियों तक में नहीं पाई जाती। खान-पान की सात्त्विकता और शीलव्रत तथा नैतिकता वहाँ की अनुकरणीय है। हमारे प्रान्तों में तो बाजार का भोजन व रात्रिभोजन धीरे-धीरे चल निकला है, पर उधर रात्रि को पानी तक नहीं पिया जाता व आलू आदि जमीकंद का नाम तक नहीं। हम बाहर से जनेऊधारी व प्रतिमाधारी बनते हैं, पर भीतर हमारे विपरीतता भरी हुई है। अपने कतिपय साधुओं के समीप जाकर हम कुछ शांति और निराकुलता का अनुभव करना चाहते हैं, पर वहाँ से निराशा और क्षोभ को लेकर आते हैं, जबकि सोनगढ़ के वातावरण में शांति का अनुभव होता है।

मैंने वींछिया, लाठी, पोरबंदर, सोनगढ़, मोरबी, वांकानेर, लींबड़ी और बम्बई में जिनबिम्ब प्रतिष्ठा करायीं। सौराष्ट्र में २५-३० जिनमंदिर निर्मापित हुए, उन सबमें प्रतिदिन पूजा और स्वाध्याय होता है। उस ओर स्वाध्याय की सामूहिक प्रवृत्ति है। मंदिर में भक्ति का भी दृश्य अपूर्व रहता है, सोनगढ़ में तो प्रतिदिन मंदिर में एक घंटा भक्ति में स्वामीजी स्वयं सम्मिलित रहते हैं। उनके समीप जाने पर तत्त्वचर्चा के सिवा दूसरी कोई घर गृहस्थी या खानपान की चर्चा नहीं होती।

ब्रह्मचर्य का महान आदर्श, जो इस वातावरण में आश्चर्यकारक है, सोनगढ़ के श्राविकाश्रम में देखने को मिलेगा, जहाँ बड़े-बड़े सम्पन्न घरों की बालब्रह्मचारिणी बहिनें पूज्य बहनश्री बहनजी के संरक्षण में पवित्र जीवन व्यतीत कर रही हैं। उनका शास्त्रज्ञान भी बढ़ा चढ़ा है। पंचाध्यायी आदि ग्रंथ उन्हें शंका समाधान सहित कंठस्थ हैं। वे सब अपने हाथ से पीसकर शुद्ध मर्यादित भोजन करती हैं और व्रतोपवास में सदा सावधान रहती हैं। पूजा-पाठ, मंडल विधान, भक्ति आदि में उनका प्रमुख हाथ रहता है, जिनके कारण अन्य सब लोग अनुशासित बने रहते हैं। उस ओर का वात्सल्य, सामूहिक भोजन, दान आदि की प्रवृत्ति सराहनीय है।

जिनबिम्ब प्रतिष्ठाओं में सौराष्ट्र में जो भगवान के माता-पिता बनते हैं, वे आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करते हैं तथा लौकान्तिक देव ब्रह्मचारी व देवियाँ ब्रह्मचारिणी कन्यायें रहती हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि 'श्री स्वामीजी निश्चय का उपदेश देते हैं, पर व्यवहार का

कथन नहीं करते।' इससे ज्ञात होता है कि वे व्यवहार को नहीं मानते, यह मानना भ्रमपूर्ण है, क्योंकि पूजा-दान इत्यादि व्यवहार का उपदेश तो सभी देते हैं। स्वामीजी ने भी वर्षों तक खूब दिया है, पर दिगम्बर जैन शास्त्रों की अभूतपूर्व बात, जो उन्हें समयसारादि से मिली, कभी किसी ने इस रूप में नहीं बताई और इनके बिना जाने केवल क्रियाकाण्ड 'अजागलस्तन के सामन था। बिना एका के बिन्दु समान निरर्थक है। अत: उस यथार्थ का प्रगट करना आवश्यक समझकर बारबार अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हैं। वे अपने प्रभावक प्रवचन में जड़कर्म एवं मोह-राग-द्वेष आदि से पृथक् नित्य, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत कर आत्मदर्शन की ओर प्रेरणा प्रदान करते हैं। प्रत्येक वक्ता की कुछ न कुछ विशेषता रहा करती है। जिन्हें संसार दु:ख से छूटने व शाश्वत् सुख का मार्ग जानना हो, वे स्वामीजी की वाणी का रसास्वादन करें। वहाँ तो 'खोजी जीवे वादी मरे' की उक्ति चरितार्थ होती है।

'पद्मनंदिपंचविंशतिका' दान आदि प्रकरण के विवेचन में श्रावकाचार श्रावकधर्म का स्वामीजी बड़ा सुंदर विवेचन करते हैं, जहाँ व्यवहार ही व्यवहार है।

सोनगढ़ से प्रकाशित समयसार (हिन्दी) की गाथा १२वीं की टीका, पृष्ठ २७ में 'जिनभक्ति, जिनबिम्ब दर्शन, अणुव्रत, महाव्रत ग्रहण आदि व्यवहार का उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनभूत बात' बताकर यह भी स्पष्ट लिखा है कि 'यदि कोई व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभ उपयोगरूप व्यवहार को छोड़ देगा और वह भ्रष्ट होकर नरक निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा।' इसप्रकार स्याद्वाद मत का वहाँ स्पष्ट कथन है।

(सन्मति संदेश से उद्धृत)

धम्मो मंगलं उक्किट्ठं

धर्म उत्कृष्ट मंगल है

चैत्र सुदी अष्टमी के दिन पूज्य स्वामीजी का वांकानेर शहर में पधारते समय भावपूर्ण स्वागत हुआ। टाउन हॉल में मंगल सुनाते हुए गुरुदेव ने कहा कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है।

पाप-पुण्य रहित चिदानंदमूर्ति आत्मा का सम्यग्ज्ञान करते समय आत्मा में जो निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनंद का वेदन होता है, वह अपूर्व धर्म है, और वही उत्कृष्ट मंगल है। ऐसे धर्मिष्ठ जीवों को देव भी नमस्कार करते हैं। देवों के पुण्य सामग्री विशेष है, परंतु वे उनका आदर न कर—अर्थात् छोड़कर धर्म का आदर करते हैं—अर्थात् धर्माराधक जीवों का देव भी आदर करते हैं। ऐसा उत्कृष्ट मंगल आत्मा में कैसे प्रगट हो, उसकी यह बात है। दोपहर में समयसार की गाथा ७२ पर प्रवचन हुआ। उसका सार यहाँ दिया है।

भाई, यह तुम्हारे आत्मा की बात है, तुम्हारे आत्मा की धर्म कथा है, जीव ने आत्मा की धर्म कथा कभी रुचिपूर्वक श्रवण नहीं की, इसलिए वह दुर्लभ है, यद्यपि चैतन्य की साधना तो स्वाधीन है, उसमें पर के निकट याचना करने की बात नहीं है, पराधीनता नहीं है, इसलिए सुलभ है। परंतु अनंत काल से वह नहीं किया। इससे दुर्लभ कहलाती है। (सुलभ निश्चय है और दुर्लभ कहना व्यवहार है) जीव बाह्य वस्तुओं को—(राजपद या स्वर्गपद) भी पूर्व में अनंत बार प्राप्त कर चुका है। इससे उनमें कुछ भी अपूर्वता नहीं है, इसलिये उनको सुलभ कहा जाता है। और आत्मा के प्रयत्न से बाहर का संयोग नहीं आता, इस अपेक्षा से उसे दुर्लभ कहा जाता है। परंतु उस संयोग में कोई अपूर्वता नहीं है। अपूर्वता तो इस चैतन्यबिम्ब आत्मा के भान करने में है। अरे! इस चैतन्य की कथा सुनने के लिए स्वर्ग के देव भी स्वर्गलोक से इस मनुष्यलोक में आते हैं। चैतन्य के माहात्म्य के सामने स्वर्ग की ऋद्धि अत्यंत तुच्छ है। इस चैतन्य की पहचान से आत्मा के भव-बंधन टूटते हैं और मुक्ति का मार्ग हस्तगत होता है।

ऐसे आत्मा को बिना समझे अनंत काल बाह्य क्रियाओं में बीता—इस मार्ग में चलते-चलते अनेक युग व्यतीत हुए परंतु पंथ का पार (अंत) नहीं आया। पापं अघं हरतीति हरि—ऐसा हरि-चैतन्य भगवान आत्मा तुमसे जरा भी अलग नहीं है, तुम्हारे हृदय में विराजमान है। परंतु इसके दर्शन में तुम्हें बाहर का अभिमान बाधक हुआ है।

देह की क्रिया मेरी और शुभाशुभ विकार की क्रिया मेरी, ऐसी मिथ्याबुद्धिरूप अहंकार तुम्हें भगवान आत्मा के दर्शन में बाधक होता है। है तो अंतर में, परंतु बाहर से हटकर अंतर में आये तब दिखाई दे न ?

एक क्षणमात्र भी जो भेदज्ञान से चैतन्य और राग को भिन्न करे तो जिसप्रकार बिजली गिरने से पर्वत के दो टुकड़े हो जाते हैं, और वे कभी जोड़ने से नहीं जुड़ते; उसीप्रकार ज्ञानी के ज्ञान और राग की कभी एकता नहीं होती। भेदज्ञान करके राग से पृथक् हुआ, वहाँ अंदर से ध्वनि आती है कि अब आत्मा के परिभ्रमण का अंत समीप आया है।

भव-भ्रमण में जीव ने चैतन्य का यथार्थ श्रवण, लक्ष्य, परिचय तथा अनुभवन कभी नहीं किया! यथार्थ श्रवण तब कहलाता है, जब उसे लक्ष्य में ले,... यथार्थ लक्ष्य तब कहा जाता है, जब परिचय करे और यथार्थ परिचय तब कहा जायेगा, जबकि अनुभव करे। यथार्थ श्रवण और लक्ष्यपूर्वक अंतरंग में राग से पार चैतन्य का अनुभव करना, वह अपूर्व धर्म और उत्कृष्ट मंगल है।

(वांकानेर शहर के प्रवचन से)

भेदज्ञानी की एकत्व भावना

महा आपदाओं से पूर्ण, दु:खरूपी अग्नि से प्रज्वलित और गहन इस संसाररूपी मरुस्थल में यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है, कोई भी उसका साथी नहीं है ॥१॥

यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है, और सब प्रकार एकाकी है। समस्त गतियों में, एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है ॥२॥

स्वर्ग की शोभा को मोहदृष्टि से देखकर उसमें अनुरक्त होकर स्वर्ग में माने हुए सुखों को अकेला ही भोगता है। संयोग-वियोग में; जन्म-मरण में तथा सुख-दु:ख भोगने में कोई भी उसका साथ नहीं होता। यह जीव पुत्र, मित्र, स्त्री आदि को मोह का निमित्त बनाकर, उनके संबंध से अपने संतोष के लिए जो कुछ पुण्य, पाप, अच्छा-बुरा कार्य करता है, उसका फल भी नरकादि गतियों में स्वयं अकेला ही भोगता है, कोई दूसरा हिस्सेदार नहीं बनता।

अनेक प्रकार के पापों द्वारा धनोपार्जन होता है। उसके भोगने में तो पुत्र, मित्रादि अनेक

साथीदार हो जाते हैं, परंतु अपने बाँधे हुए पापकर्म के संबंध से होनेवाले घोर दु:ख की राशि के सहन करने के लिये कोई भी साथी नहीं होता।

प्रत्यक्ष में देखता है कि संसार के मोहवश प्राणी अकेला ही जन्म-मरण पाता है। उसके किसी भी दु:ख में कोई साथी नहीं है, शरण नहीं है, फिर भी जीव अपने अनादि-अनंत एकत्व निश्चय स्वरूप को नहीं देखता, यह बड़ी भारी भूल है—उसका कारण स्वयं कृत अज्ञान ही है।

यह मूढ़ जीव, जिससमय मोहवश पर को अपना मानता है, मिथ्यात्व रागादि को कर्तव्य मानता है, और तद्रूप परिणमन करता है, उस समय जीव अपने को अपने ही अपने दोष से बाँधता है।

जब भेदज्ञान द्वारा, यथार्थ एकत्व का अनुभव करता है, तब कर्मों का बंध नहीं करता परंतु निर्जरापूर्वक मोक्षगामी होता है।

जब यह जीव भेदविज्ञान द्वारा भ्रमरहित होकर ऐसा चिंतवन करता है कि मैं एकत्व को प्राप्त हुआ हूँ, तब स्वानुभव के बल से इस जीव का संसार संबंध स्वयं नष्ट हो जाता है, क्योंकि संसार का संबंध तो मोह से है। निर्मोही निर्मल ज्ञानानंद की दृष्टि, ज्ञान और अनुभव होने पर मोह उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि स्वयं अकेला है, तो मोक्षदशा क्यों न प्राप्त हो ? (ज्ञानार्णव)

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—सत्पुरुषों की वाणी किसलिये होती है ?

उत्तर—(१) भव्य जीवों को सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थ, देव, गुरु, शास्त्र और धर्म का विशेष ज्ञान होने के लिये,

(२) स्व-पर का तथा हित-अहित का विवेक होने के लिये,

(३) अहित से मुक्त होने के लिये अर्थात् हित में प्रवर्तन करने के लिये,

(४) सम्यक् प्रकार से तत्त्व के उपदेश के लिये होती है।

प्रश्न—शास्त्र किसलिये हैं ?

उत्तर—सर्वज्ञ वीतराग कथित शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता ही है। स्वतंत्रता, यथार्थता तथा वीतरागता को ग्रहण करने के लिये शास्त्र का श्रवण, वाँचन और उपदेश है, उसकी प्राप्ति करे तो वह सफल है, अन्यथा सब निष्फल-खेद है। (ज्ञानार्णव, गाथा ८-९ का भावार्थ)

वीर का मार्ग

[एक चित्र-कथा]

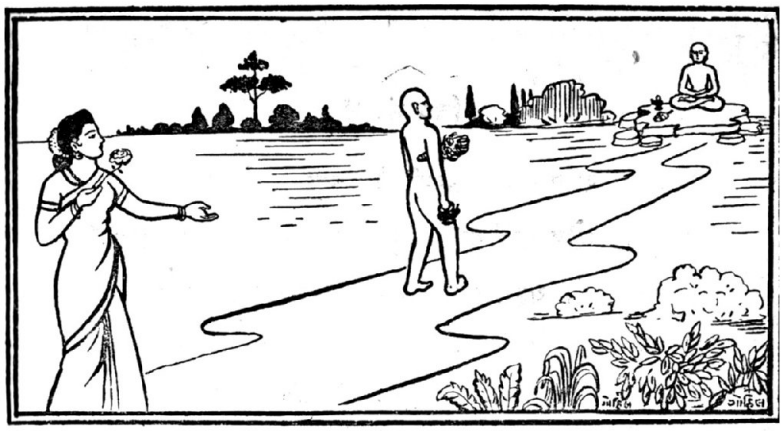

चित्र नं० १

वीरमार्ग को साधने के लिये निकला; वह राग की ओर देखने के लिये नहीं रुकता....

चित्र नं० २

विवाह करके लौटा ही था कि युद्ध की नौबत बज उठी....

माता ने तिलक करके विदा किया; राजपूतानी ने भी साहसपूर्वक विदा किया।

चित्र नं० ३

लेकिन....! राजपूत मुड़कर पत्नी की ओर देखता है।.....

[यहाँ इस चित्रकथा में स्त्री राग का प्रतीक है; उस राग की रुचि रखकर—रागोन्मुख होकर—मोक्षमार्ग को साधने के लिये नहीं जाया जा सकता; राग की रुचि छेदकर ही मोक्षमार्ग की साधना होती है—ऐसे मार्ग की प्रेरणा देकर जिनवाणी माता जागृत करती हैं।]

चित्र नं० ४

राजपूतानी कहती है—इस चेहरे का मोह तुम्हें युद्ध में जाने से रोक रहा है न!
लो, यह सिर भी अपने ले जाओ!!

चित्र नं० ५

माता कहती है—अरे कायर! इस शूरवीरता दिखाने के अवसर पर तू स्त्री के राग में रुक रहा है ?

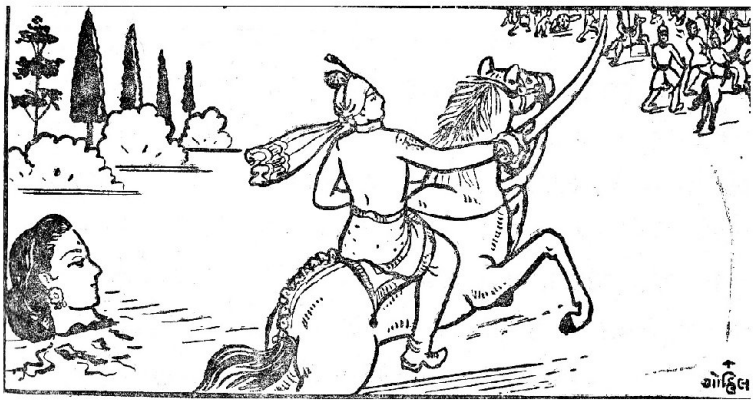

चित्र नं० ६

यह सुनते ही राग के बंधन तोड़कर वीरतापूर्वक विजय करने के लिये चल पड़ा। शत्रु मैदान छोड़कर भागते हैं, राजपूत तलवार उठाकर, घोड़ा दौड़ाकर आगे बढ़ता है।

वीर मार्ग को साधने के लिये निकले हुए परमार्थरसिक जीव कैसे पुरुषार्थी होते हैं और राग की रुचि के बंधन तोड़कर कैसी वीरता से चैतन्य को साधते हैं—यह दर्शानेवाली इस चित्रकथा पर से सिद्धांत समझने के लिये इस अंक में प्रकाशित लेख अवश्य पढ़ें।

मोक्ष के साधक शूरवीर होते हैं, वे राग की प्रीति में नहीं रुकते।

[पंचास्तिकाय, गाथा १ पर पौष कृष्णा अष्टमी के प्रवचन का अन्तिम भाग। यह लेख आत्मधर्म के पिछले अंक में छपना था किंतु प्रवास के कारण रह गया था, इसलिये इस अंक में दिया जा रहा है।]

भगवान तीर्थंकरदेव का उपदेश—जो कि निर्बाधरूप से शुद्धात्मा की प्राप्ति करानेवाला है, उस उपदेश को झेलकर जो जीव चिदानंदस्वभाव को साधने के लिये निकला, उसके पुरुषार्थ का वेग स्वभाव की ओर होता है, वह परभाव के सामने नहीं देखता, परभाव की प्रीति में वह नहीं अटकता। 'राग का यह कण शुभ है, उससे मुझे कुछ लाभ होगा, वह कुछ सहायक होगा'—इसप्रकार राग के समक्ष देखने के लिये मोक्षार्थी जीव खड़ा नहीं रहता... वह तो निरपेक्ष होकर वीररूप से वीतराग-स्वभाव की श्रेणी पर चढ़ता है। तीर्थंकरों की और वीर संतों की वाणी जीव का पुरुषार्थ जागृत करनेवाली है। वे कहते हैं कि अरे जीव! तू वीतरागमार्ग को साधने के लिये चला है और बीच में मुड़कर राग की ओर देखने को खड़ा रहता है? क्या तू मोक्षमार्ग साधने चला है?—अरे कायर! क्या वीतरागमार्ग की साधना इसी तरह होती है? तू वीतरागमार्ग को साधने चला है और अभी तुझे राग की प्रीति है? क्या शुभराग भला है-हितकर है?—छोड़ दे, यह राग की रुचि और राग का अवलंबन, छोड़ दे उसका प्रेम! और वीर होकर उपयोग को झुका अपने स्वभाव की ओर! वीतरागमार्ग का साधक शूरवीर होता है, वह ऐसा कायर नहीं होता कि क्षणिक राग की वृत्ति से लुट जाये। 'वीर का मारग है शूरों का.... कायर का नहिं काम....'

इस बात को विशेष समझाने के लिये एक राजपूत का दृष्टांत है—एक राजपूत अपना विवाह करके लौट ही रहा था कि उसके राज्य पर शत्रु ने चढ़ाई कर दी। युद्ध की नौबत बज उठी, वीरों का गर्जन होने लगी। राजपूत को लड़ाई में जाना था... राजपूत की माता ने हँसकर तिलकर करके अपने पुत्र को विदा किया... बाहदुर राजपूतानी ने साहसपूर्वक पति को विदा किया... किंतु राजपूत युद्ध में जाते हुए नवपरिणित वधू का मुँह स्नेह के कारण बारम्बार पीछे मुड़कर देखने

लगा... उसके पाँव आगे नहीं बढ़ रहे थे.. युद्ध के ठीक समय पर उसकी यह ढीलढाल देखकर वीर राजपूतानी से न रहा गया। उसने गरज कर कहा : 'ठहर जाओ, मेरा यह चेहरा भी अपने साथ लेते जाओ, ताकि तुम्हारा मन युद्ध में लगे...' इतना कहकर उसने अपना सिर काटकर राजपूत के सामने रख दिया। राजपूत अचम्भे में पड़ गया। उसकी माता कहने लगी—'अरे कायर! तूने राजपूतानी का दूध पिया है... युद्ध में जाते समय, वीरता दिखाने के समय तू पत्नी का मुँह देखने के लिये रुक रहा है ? छोड़ इस वृत्ति को ! क्या यह राग की वृत्ति में रुकने का अवसर है ? अरे, यह तो शूरवीर बनकर शत्रु को जीतने का समय है, अब राग की वृत्ति में नहीं रुका जाता !' उसीप्रकार—

जो जीव चैतन्य को साधने के लिये निकला है, वह कहे कि राग से कुछ लाभ होगा—कहीं भी राग के अवलंबन से किंचित् लाभ हो सकता है—इसप्रकार राग की वृत्ति में रुककर, शुभराग के सन्मुख देख रहा है—जो कायरता से अटक रहा है और अंतर में चैतन्य की ओर नहीं झुकता—ऐसे कायर जीव से जिनवाणी माता कहती है कि—अरे जीव ! तू शूरवीर होकर चैतन्य को साधने के लिये निकला है, तू वीर-मार्ग में मोह को जीतने के लिये चला है, तो राग की रुचि तुझे नहीं चल सकती ! राग की ओर देखकर रुकने का यह समय नहीं है; यह तो राग की रुचि तोड़कर शूरवीरता से मोह-शत्रु को मारने तथा चैतन्य को साधने का अवसर है। वीर-मार्ग के साधक शूरवीर ही होते हैं, वे ऐसे कायर नहीं होते कि राग की वृत्ति में अटक जायें। वीर का मार्ग शूरवीर का है... वह राग का बंधन तोड़कर शूरवीरता से मोह-शत्रु को मारता है, और चैतन्य को साधता है।

शुद्धोपयोग का प्रसाद

'स्वयंभू' आत्मा की अन्य कारकों से अत्यंत निरपेक्षता

शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति शुद्धोपयोग द्वारा होती है और वह शुद्धोपयोग आत्मस्वभाव के आश्रय से ही होता है। शुद्धोपयोग चैतन्यपरिणामस्वरूप है; शुभाशुभरागपरिणाम सचमुच चैतन्यपरिणामस्वरूप नहीं हैं। भले ही वे होते हैं आत्मा में, किंतु वे आत्मा के स्वभावपरिणाम नहीं हैं। स्वभावपरिणाम तो शुद्धोपयोग है; उस शुद्धोपयोग द्वारा पद-पद पर शुद्धता बढ़ती जाती है और निर्विघ्न ज्ञान-दर्शन शक्ति का विकास हो जाता है अर्थात् आत्मा सर्वज्ञरूप से प्रसिद्ध होता है।

ऐसी सर्वज्ञता शुद्धोपयोग के प्रसाद से प्राप्त होती है। अहो, सर्वज्ञता के अचिंत्य सामर्थ्य की क्या बात कहें! अनंत अलोकाकाशादि को साक्षात् जान लेती है। अनंत को अनंतरूप से जानकर उसका पार पा लेती है—यह ज्ञान की महान अनंत शक्ति है। ऐसी अचिंत्य सर्वज्ञशक्ति तथा अपूर्व अतीन्द्रिय परमानंद शुद्धोपयोग द्वारा प्रगट होता है; अन्य कोई साधन नहीं है।

शुद्धोपयोग द्वारा जो शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है, वह अन्य कारकों से निरपेक्ष है, आत्मा के ही आधीन है, किंचित् परावलंबन उसमें नहीं है। इसप्रकार स्वयं अपने ही आश्रय से सर्वज्ञरूप प्रसिद्ध हुआ आत्मा 'स्वयंभू' है।

अहो, सर्वज्ञता अर्थात् ज्ञान के अचिंत्य सामर्थ्य की पराकाष्ठा। उसमें किंचित् परावलंबन नहीं है, उसमें विकार नहीं है, उसमें अपूर्णता नहीं है। ऐसे ज्ञानसामर्थ्य का आदर, सत्कार, प्रशंसा तथा परिचय करने से अपने सर्वज्ञ-स्वभाव का निर्णय होता है अर्थात् दर्शनमोह का नाश होकर सम्यग्दर्शन होता है। भगवान कहते हैं कि—हमें जो जानेगा, उसे क्षायिक सम्यक्त्व होगा। सर्वज्ञता का निर्णय सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय से होता है। अल्पज्ञ ऐसी मति-श्रुतपर्याय में भी अंतरोन्मुखता द्वारा सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय होता है।

सर्वज्ञस्वभाव की साधना करते-करते स्वाश्रय की भूमिका सहित बीच में विकल्पों से जो कर्म बंध हुआ (तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ), उस प्रकृति का उदय केवलज्ञान होने के पश्चात् आया और उसके निमित्त से जो वाणी छूटी, उस वाणी में भी स्वाश्रय का ही उपदेश आया है। स्वाश्रयभाव द्वारा ही भगवान की वाणी का निर्णय हो सकता है। सर्वज्ञ का निर्णय सर्वज्ञ के आश्रय से नहीं होता, व्यवहार के आश्रय से नहीं होता किन्तु स्वोन्मुख होकर स्वभाव के आश्रय से ही उसका निर्णय होता है।

अहो, ऐसी स्वाश्रय विधि द्वारा ही अरहंतों ने मोह का क्षय किया और ऐसे ही स्वाश्रितमार्ग का उपदेश देकर वे मोक्ष पधारे... अहो, उनको नमस्कार हो! उनके दर्शाये हुए स्वाश्रितमार्ग को नमस्कार हो!

देखो, यह अरिहंतों का मार्ग! अरिहंतों का मार्ग पराश्रित नहीं है, वह तो स्वाश्रित मार्ग है, वीर का मार्ग है, जगत से अत्यंत निरपेक्ष मार्ग है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी इसी मार्ग से होती है और फिर वीतरागता तथा केवलज्ञान भी इसी मार्ग से होते हैं; इसमें बीच में कहीं पर का आश्रय नहीं है, कहीं राग का अवलंबन नहीं है, बीच में कहीं अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है। अहो, ऐसा परम निरपेक्ष वीतरागमार्ग अत्यंत आत्माधीन है और स्वाधीन ऐसा शुद्धोपयोग ही उसका साधन है।

यहाँ उत्कृष्ट बात है, इसलिये केवलज्ञान की प्राप्ति अन्य द्रव्यों से अत्यंत निरपेक्ष तथा अत्यंत आत्माधीन है—ऐसा कहा है। केवलज्ञान की भाँति सम्यग्दर्शन से लेकर मोक्षमार्ग की समस्त निर्मल पर्यायें अत्यंत आत्माधीन हैं, तथा अन्य साधनों से अत्यंत निरपेक्ष हैं—ऐसा सर्व पर्यायों में जानना। सम्यग्दर्शन में पर का किंचित् मात्र अवलंबन है ?.. तो कहते हैं कि—नहीं; वह तो अत्यंत स्वावलंबी है; उसमें किंचित् परावलंबन नहीं है। अहो, सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की मेरी किसी भी पर्याय में पर का किंचित् मात्र अवलंबन नहीं है। अपने आत्मस्वभाव के अवलंबन से ही सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की पर्यायें प्रगट होती हैं। बस, मुझे अपने में ही देखना रहा... अपने में ही स्थिर होना रहा। स्वाश्रय द्वारा सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञानरूप परिणमित होना, वह मेरे ही अधिकार की बात है, उसमें किसी अन्य का अधिकार नहीं है—पराधीनता नहीं हैं।

शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों का नाश करके जिसने शुद्ध अनंत शक्तिवान चैतन्यस्वभाव प्राप्त किया है—ऐसा यह आत्मा स्वयमेव अपने ज्ञायकस्वभाव के सामर्थ्य से ही छह कारकरूप होकर सर्वज्ञ हुआ है, इसलिए वह 'स्वयंभू' है। सर्व आत्माओं में स्वयमेव छह कारकरूप होने की शक्ति है, दूसरे के साथ आत्मा को कारकपने का संबंध नहीं है। अहो, ऐसे निजस्वभाव को भूलकर बाह्य सामग्री ढूँढ़ने की व्यग्रता से अज्ञानी जीव व्यर्थ ही पराधीन आकुल-व्याकुल हो रहे हैं।

यहाँ, आचार्यदेव आत्मा का 'स्वयंभू'पना बतलाकर चैतन्यस्वभाव का ही अवलंबन कराते हैं। भाई, सर्वज्ञतारूप से अन्य किसी की सहायता के बिना परिणमित हो, ऐसी आत्मा की

शक्ति है। जिसमें सर्वज्ञता का स्वभाव भरा हो, वही सर्वज्ञता का कर्ता होता है। रागादि में सर्वज्ञस्वभाव नहीं है कि वह सर्वज्ञता का साधन हो। सर्वज्ञता का कर्ता या साधन होने का सामर्थ्य सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में है, इसलिये अपने स्वतंत्र सामर्थ्य से शुद्धोपयोग प्रगट करके स्वयं ही सर्वज्ञता का कर्ता होता है। उग्र शुद्धोपयोगरूप से परिणमित होना, उसका नाम शुद्धोपयोग की भावना है, उस भावना में विकल्प नहीं है। ऐसे शुद्धोपयोगरूप से परिणमित होने पर आत्मा निजस्वभाव सामर्थ्य प्रगट करके सर्वज्ञ होता है; उसमें स्वयं ही स्वतंत्र कर्ता है और स्वयं ही उसरूप परिणमित होकर अपना प्राप्य होता है, इसलिये स्वयं ही अपना कर्म है। पुनश्च, उसका साधन भी स्वयं ही है। स्वयं ही स्वयमेव ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण उत्कृष्ट साधन है; अन्य कोई भिन्न साधन है ही नहीं। उस काल ज्ञानरूप परिणमित होनेवाला आत्मद्रव्य स्वयं ही साधकतम है। बाह्य का तो साधन है नहीं; राग भी साधन नहीं है और पूर्व पर्याय भी वास्तव में साधन नहीं है। उस काल उस भाव में तन्मय परिणमित द्रव्य ही साधन है। पुनश्च, वह निर्मल परिणति स्वयं को ही दी जाती है, इसलिये आत्मा स्वयं ही उसका सम्प्रदान है; उस कार्य में ध्रुवरूप से स्वयं ही रहता है; इसलिये आत्मा ही उसका अपादान है, तथा उस परिणति का आधार भी स्वयं ही होने से स्वयं ही अधिकरण है। इसप्रकार आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होकर अपनी निर्मलपरिणतिरूप से परिणमित होता है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है।

अरे जीव! ज्ञान-आनंदरूप से परिणमित होने की शक्ति तेरे आत्मा में ही है, उसका अवलंबन ले, अन्यत्र-बाह्य में न ढूँढ़। ऐसे स्वावलंबी स्वभाव की ओर ढले बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और न स्वभाव का विकास होता है। परभाव में अनादिकाल से तो पड़ा ही है; किंतु स्वभाव का विकास कैसे हो? वह बात कभी नहीं समझा। आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे जीव! मोक्षमार्ग तो आत्मा के अवलंबन से है, बाह्य अवलंबन से मोक्षमार्ग नहीं है। स्वसत्ता का अवलंबन ही मोक्षमार्ग है अर्थात् शुद्धात्मानुभूति, वह मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्मानुभूति है, वहाँ बारह अंग का ज्ञान हो या न हो। ऐसा कोई नियम नहीं है कि बारह अंग का ज्ञान होना ही चाहिये। शुद्धात्मा की अनुभूति में बारह अंग का रहस्य आ गया। मध्यबिन्दु से चैतन्यसमुद्र उल्लसित हुआ, वहाँ पर्याय में ज्ञान-आनंद का ज्वार आया। अनुभूति के बिना अकेले शास्त्र के ज्ञातृत्व से या राग की मंदता द्वारा पर्याय में अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंद का ज्वार नहीं आता। जहाँ शुद्धोपयोग से आत्मस्वभाव में एकाग्र हुआ, वहाँ वह स्वभाव स्वयं ही उल्लसित होकर पर्याय में प्रगट होता है; इसलिये अंतर्मुख

होकर अपने ऐसे स्वभाव को प्रतीति में लेना-ज्ञान में लेना-अनुभव में लेना, वह मोक्षार्थी का कर्तव्य है।

अरे मोक्षार्थी जीवो! चैत्न्य के अचिंत्य सामर्थ्य को प्रतीति में लो। भगवान अरिहंत निजस्वभाव के अवलंबन से ही स्वयमेव सर्वज्ञ हुए हैं; उन्हें किंचित् परावलंबन नहीं है। जैसे अरिहंत भगवान वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव; ऐसे स्वभाव को जानकर व्यग्रता छोड़ो, बाह्य सामग्री की आशा-(पराधीनता की बुद्धि) छोड़ो और प्रमोद सहित स्वभाव का अवलंबन लो। यथार्थ वस्तुस्थिति में व्यग्रता या परतंत्रता नहीं होती। व्यग्रता और परतंत्रता तो विकृति में है। इसलिये यथार्थ वस्तुस्थिति को समझकर स्वावलंबन करो और व्यग्रता छोड़ो!—इसप्रकार संतों ने स्वावलंबी मार्ग का उपदेश दिया है। *[श्री प्रवचनसार, गाथा १५-१६ के प्रवचन से]*

जैनदर्शन शिक्षण वर्ग

श्रावण सुदी ५ से जैन शिक्षण वर्ग में पढ़ाई में मोक्षमार्गप्रकाशक, जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, जैनतत्त्वमीमांसा, द्रव्यसंग्रह, जैनसिद्धांत प्रवेशिका, छहढाला आदि होंगे। यह वर्ग मात्र पुरुषों के लिये ही है, आनेवालों के लिये रहने तथा भोजन की व्यवस्था संस्था की ओर से होगी।

साध्य-साधकभाव का प्रकार और उसका सम्यक् स्वरूप

[श्री रामजी माणिकचन्दजी दोशी, सोनगढ़]

जिनागम में साध्य क्या और साधक कौन, इस विषय का विविध स्थलों पर विविध दृष्टिकोणों से स्पष्टीकरण किया गया है, किंतु उन दृष्टिकोणों के साथ उक्त विषय का यथार्थ परिज्ञान करने के लिए सर्वप्रथम आगे बतलाये जानेवाले विषयों को जान लेना अत्यंत उपयोगी है, इसलिये पहले उनका स्पष्टीकरण किया जाता है—

(१) तत्त्वदृष्टि से निश्चयमोक्षमार्ग, वही एक मोक्षमार्ग है; व्यवहारमोक्षमार्ग, वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है। (२) निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग ये दोनों एक साथ प्रगट होते हैं? (३) निश्चयनय निषेधक और व्यवहारनय निषेध्य है। (४) निश्चयमोक्षमार्ग एकमात्र त्रिकाली अभेद ज्ञायकभाव (उसके आश्रयरूप) परिणमन क्रिया के होने पर प्रगट होता है, अन्य प्रकार से नहीं।

आगे इन विषयों का क्रम से खुलासा करते हैं

(१)

निश्चयमोक्षमार्ग ही मोक्षमार्ग क्यों है और व्यवहारमोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग क्यों नहीं? इस विषय पर सुंदर ढंग से प्रकाश डालते हुए (१) प्रवचनसार, गाथा ८०, ८१ तथा ८२ तथा उनकी टीका में बताया है कि जो द्रव्य, गुण और पर्यायरूप से अरिहंतों को जानकर अपने मन से यह जानता है कि जिसप्रकार त्रैकालिक प्रवाहरूप अरिहंतों का द्रव्य है, उसीप्रकार मेरा द्रव्य भी त्रैकालिक प्रवाहरूप है; जिसप्रकार अरिहंतों का एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेषण गुण है, उसीप्रकार मेरा भी एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेषण गुण है और जिसप्रकार उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं, वे अरिहंतों की पर्याय हैं, उसीप्रकार उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं, वे मेरी पर्याय हैं। और फिर ऐसा जानने के बाद जो गुण और पर्यायों को द्रव्य में अंतर्गत करके परिणामी, परिणाम और परिणति का भेद विकल्प छोड़कर अभेदरूप अर्थात् मात्रपने आत्मा का आश्रय लेता

है, उस आत्मा के निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होने से निराश्रय भाव को प्राप्त हुआ मोह-दर्शनमोह (स्व-पर में एकत्वबुद्धि को उपजानेवाला मिथ्यात्वभाव) नाश को प्राप्त हो जाता है।

इसप्रकार जिसने दर्शनमोह को दूरकर आत्मा के सम्यक् तत्त्व को प्राप्त कर लिया है, यह जब उक्त विधि से भेदविकल्प से रहित शुद्ध आत्मतत्त्व का पुनः पुनः आश्रय लेता है, तब उसके क्रमशः राग-द्वेषरूप परिणाम का अभाव होकर (सरागचारित्र का अभाव होकर) निराकुल सुखस्वरूप परम वीतरागदशा प्रगट होती है।

आचार्य कहते हैं कि कर्मों का क्षय कर जितने भी अरिहंत हुए, वर्तमान में हो रहे हैं और अनागत काल में होंगे, वे सब एकमात्र इसी मार्ग से अरिहंत हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। इसके सिवा निःश्रेयस प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। इससे सिद्ध है कि एकमात्र निश्चयमोक्षमार्ग ही सच्चा मोक्षमार्ग है; व्यवहारमोक्षमार्ग, वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं। भगवान वीतराग अरिहंत भट्टारक का उपदेश भी यही है। उक्त कथन की पुष्टि में आगे इन प्रमाणों का भी पर्यालोचन कीजिये—

(२) आचार्य पद्मनंदि ने पद्मनंदिपंचविंशतिका के एकत्वसप्तति नामक अधिकार में इस विषय का सुंदर ढंग से खुलासा किया है। वे उक्त अधिकार के श्लोक ३२ में कहते हैं कि निश्चय से जो यह एकत्व है, अद्वैत है, वह परम अमृत है अर्थात् मोक्षस्वरूप है, किंतु द्वैत को उपजानेवाला जो यह व्यवहारमोक्षमार्ग है, वह संसार है।

(३) इसी ग्रंथ में धर्मोपदेश नामक प्रथम अधिकार (श्लोक ८१) में वे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता बंध का विध्वंस करनेवाली है और बाह्य अर्थरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से बाह्य हैं। वे बाह्य पदार्थों को विषय करते हैं, इसलिये उनसे शुभाशुभ कर्मों बंध होता है, जो संसार परिभ्रमण का कारण है।

(४) प्रवचनसार, गाथा १९९ में और उसकी टीका में भी इसका बहुत ही उत्तम प्रकार से स्पष्टीकरण किया गया है। वहाँ बतलाया है कि सभी सामान्य चरमशरीरी, तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी तथोक्त शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्ति लक्षण विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए; किसी दूसरी विधि से सिद्ध हुए हों, ऐसा नहीं है। इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं। अधिक विस्तार से पूरा पड़े। उस शुद्धात्मतत्त्व में प्रवर्ते हुए सिद्धों को तथा उस शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को, जिसमें भाव्य-भावकरूप विभाग अस्तंगत हो गया है, नोआगमभावरूप नमस्कार हो।

(५) श्री नियमसार गाथा १४० में और उसकी टीका में यही बात सिद्ध की गई है। वहाँ बतलाया है कि ऋषभदेव से लेकर महावीरपर्यंत जितने भी परमेश्वरदेव हुए हैं, वे सब उक्त प्रकार से स्वात्मसंबंधी उत्कृष्टरूप शुद्ध निश्चय योगभक्ति को करके ही सिद्ध हुए हैं।

(६) परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार का प्रारम्भ करते हुए श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने और भी स्पष्ट शब्दों में खुलासा कर दिया है। वे लिखते हैं कि शुद्ध निश्चयनयस्वरूप परम चारित्र, व्यवहारचारित्र और उसके फल प्रतिपक्षी है।

इसप्रकार पूर्वोक्त इन सब प्रमाणों को ध्यान में रखकर विचार करने से विदित होता है कि स्वयं आत्मस्वरूप होने के कारण एकमात्र निश्चय मोक्षमार्ग ही सच्चा मोक्षमार्ग है, व्यवहार मोक्षमार्ग को जो मोक्षमार्ग कहने में आता है, वह परमार्थ कथन नहीं है, (भूमिकानुसार निमित्त का ज्ञान कराने के लिये) उपचार से ही ऐसा कहा जाता है। उसीप्रकार निश्चयरत्नत्रयरूप परिणत आत्मा में व्रत, तप आदि का जो विकल्प होता है, वह भी उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है।

(२)

वर्तमान काल में कुछ भाई ऐसा लिखने लगे हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति होती है। इसकी पुष्टि में उनका कहना है कि चौथा, पाँचवाँ और छठा गुणस्थान व्यवहाररूप हैं। इसके बाद जब यह जीव सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है, तब उसे निश्चय की प्राप्ति होती है। इसप्रकार वे चौथे आदि तीन गुणस्थानों में एकांत से मात्र व्यवहार को स्वीकार करते हैं और सातवें आदि गुणस्थानों में एकांत से मात्र निश्चय का कथन करते हैं। अब प्रकृत में यह विचार करना है कि वस्तुस्थिति क्या है ? आगे इसी विषय का विचार किया जाता है—

(१) नियम यह है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव (उपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा) तीन करण परिणाम करके या (वेदक सम्यक्त्व की अपेक्षा) करण परिणाम किये बिना कोई चौथे को, कोई पाँचवें को और कोई सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। अब प्रश्न यह है कि जो मिथ्यादृष्टि जीव सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है, उसके केवल निश्चयरत्नत्रय ही होता है या वहाँ भी निश्चयरत्नत्रय के साथ व्यवहाररत्नत्रय होता है। श्री द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ में इसका समाधान करते हुए बतलाया है कि मुनि ध्यान द्वारा निश्चय-व्यवहार दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं। इसकी टीका करते हुए ब्रह्मदेवसूरि ने जो कुछ लिखा है, उसका भाव यह है कि निश्चय-रत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग को उसीप्रकार व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप व्यवहारमोक्षमार्ग को निर्विकार स्वसंवित्तिस्वरूप परम ध्यान के द्वारा मुनि प्राप्त करते हैं।

यह तो सातवें गुणस्थान की बात हुई। अब छठे गुणस्थान का विचार कीजिए। ऐसा तो कोई भी विवेकी स्वीकार नहीं करेगा कि छठे गुणस्थान में देव, गुरु और शास्त्र की श्रद्धा के साथ मात्र पाँच महाव्रत आदि के आवरणरूप (विकल्परूप) व्यवहारचारित्र ही होता है, वहाँ आत्मा की विशुद्धिरूप निश्चयरत्नत्रय होता ही नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर द्रव्यलिंगी मुनि और भावलिंगी मुनि में कुछ भी भेद न रह जायेगा। कारण कि बाह्य में देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा के साथ पाँच महाव्रत आदि का आचरण तो द्रव्यलिंगी मुनि के भी पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि जिसप्रकार निश्चय-व्यवहार दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग सातवें गुणस्थान में होता है, उसीप्रकार वह दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग छठे गुणस्थान में भी होता है। यदि फर्क है तो इतना ही कि सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान की मुख्यता होने से वहाँ संज्वलन राग अबुद्धिपूर्वक रहता है और इसप्रकार वहाँ युगपत् दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग बन जाता है। इसीप्रकार छठे गुणस्थान में भी बुद्धिपूर्वक संज्वलन कषाय के साथ तीन कषायों के अभावरूप वीतरागचारित्र का सद्भाव होने से युगपत् दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक जीव में निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग एक साथ प्रगट होते हैं।

परमात्मप्रकाश (अध्याय २, दोहा १४ संस्कृत टीका) में बतलाया है कि निश्चयमोक्षमार्ग दो प्रकार का है—सविकल्प मोक्षमार्ग और निर्विकल्प मोक्षमार्ग। इसमें जो विकल्प हैं, वह तो आस्रव हैं और जो निर्विकल्प है, वह आस्रवरहित है। अन्यत्र जो सरागचारित्र और वीतरागचारित्र -ऐसे नाम दृष्टिगोचर होते हैं, सो उनका तात्पर्य भी यही है। संक्षेप में सार यह है कि जो व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है, वह राग ही है। उसके साथ तीन कषायों के अभावरूप जो शुद्ध परिणति होती है, वह मुख्य है। इसलिए **मोक्षमार्ग तो एक ही है - निश्चय मोक्षमार्ग।** दो प्रकार का मोक्षमार्ग नहीं है। इतना अवश्य है कि उसका कथन दो प्रकार से किया जाता है। सो इस कथन का प्रयोजन वीतराग परिणति के साथ राग का सद्भाव दिखाना मात्र है।

इस तरह छठे और सातवें गुणस्थान में जिस तरह दो प्रकार का मोक्षमार्ग बन जाता है, उसीप्रकार चौथे और पाँचवें गुणस्थान में भी दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग की सिद्धि कर लेनी चाहिये। जहाँ चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी का तथा पाँचवें गुणस्थान में मिथ्यात्व के साथ दो कषायों का अभाव होने से निश्चयमोक्षमार्ग की प्रसिद्धि होती है, वहाँ चौथे में तीन कषायों का और पाँचवें में दो कषायों का सद्भाव होने से निश्चयमोक्षमार्ग के साथ व्यवहारमोक्षमार्ग भी घटित

हो जाता है। इसप्रकार इतने विवेचन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि निश्चय और व्यवहार ये दोनों मोक्षमार्ग एक साथ प्रगट होते हैं। व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति होती हो, ऐसा नहीं है। किंतु ऐसा अवश्य है कि जितने अंश में निश्चय की प्राप्ति होती है, उसके अनुरूप व्यवहार होता ही है और जहाँ पूर्णरूप से निश्चय की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ व्यवहार का सर्वथा अभाव हो जाता है।

(३) अब इस बात का विचार करना है कि मोक्षमार्ग में एकमात्र निश्चय को निषेधक और व्यवहार को निषेध क्यों कहा? बात यह है कि संसारी जीव के जितना भी व्यवहार होता है, वह पराश्रित होने से (पर को लक्ष्य कर होने के कारण) बंध का हेतु है, इसलिए वह प्रतिषेध करने योग्य है और निश्चय आत्माश्रित होने से मोक्ष का हेतु है, इसलिए वह प्रतिषेधक है। श्री समयसार कलश १७३ में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि सब वस्तुओं में जो अध्यवसान होता है, उसे जिनेन्द्रदेव ने छोड़नेयोग्य कहा है, सो उस पर से हम ऐसा मानते हैं कि जितना भी व्यवहार है, वह सब छोड़नेयोग्य है। तथा शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप एक निश्चय ही आश्रय करनेयोग्य है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार गाथा २७२ में कहा है कि पूर्वोक्त विधि से निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषेध करनेयोग्य है, क्योंकि जो ज्ञानी निश्चयनय का आश्रय लेते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं। सविकल्पदशा से निर्विकल्पदशा को प्राप्त करने का यही एक मार्ग है। उत्कृष्ट ध्यान की सिद्धि भी इसी मार्ग से होती है, अन्य मार्ग से नहीं। कर्मों के संवर और निर्जरापूर्वक मोक्ष प्राप्ति का भी यही मार्ग है, अन्य नहीं।

प्रवचनसार गाथा ५ की टीका में अमृतचन्द्र आचार्य लिखते हैं कि इस जीव के कषाय कण के विद्यमान होने से पुण्यबंध की प्राप्ति का हेतुभूत सरागचारित्र क्रम से आ जाता है, परंतु उसे पीछे छोड़कर निर्वाण की प्राप्ति के हेतुभूत वीतरागचारित्र को प्राप्त करना चाहिए। सो इस कथन का भी वही आशय है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए पंडित हेमराजजी प्रवचनसार गाथा ११ के भावार्थ में लिखते हैं कि 'वीतराग-सराग भावों कर धर्म दो प्रकार का है। जब यह आत्मा वीतराग आत्मीक धर्मरूप परिणमता हुआ शुद्धोपयोग भावों में परिणमन करता है, तब कर्मों से इसकी शक्ति रोकी नहीं जा सकती। अपने कार्य करने को समर्थ हो जाता है, इस कारण अनंत अखंड निज सुख जो मोक्षसुख, उसको स्वभाव ही से पाता है और जब यह आत्मा दान, पूजा, व्रत, संमयादिरूप सराग भावों कर

परिणमता हुआ शुभोपयोग परिणति को धारण करता है, तब इसकी शक्ति कर्मों से रोकी जाती है, इसलिए मोक्षरूपी कार्य करने को असमर्थ हो जाता है। फिर उस शुभोपयोग परिणमन से कर्मबंधरूप स्वर्गों के सुख को ही पाता है।'

यद्यपि शास्त्रों में व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य कहा है, सो उसका इतना ही तात्पर्य है कि सविकल्पदशा में निश्चय के साथ पर को लक्ष्य कर जो व्यवहार होता है, वह उस अवस्था में प्राप्त निश्चय का प्रतिबंधक न होने से उसमें साधनपने का व्यवहार किया जाता है और निर्विकल्प अवस्था में सहचर होने से उसे साधन कहा गया है। पर इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि व्यवहार से निश्चय धर्म की उत्पत्ति होती है तो उसका ऐसा अर्थ करना इसलिये भ्रांत है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनुभूतिरूप निर्विकल्प अवस्था को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। केवल व्यवहार से ही उत्तरोत्तर आत्मीक शुद्धि में वृद्धि होकर मुक्ति की प्राप्ति माननी पड़ेगी। अतएव सर्वत्र ऐसा ही श्रद्धान करना उचित है कि मोक्षमार्ग में सर्वत्र पराश्रित होने से व्यवहार प्रतिषेध्य है और आत्माश्रित होने से निश्चय उसका प्रतिषेधक है।

(४) अब देखना यह है कि जिससे रत्नत्रय की उत्पत्ति होकर यह आत्मा स्वयं समयसार हो जाये, इसके लिये इस आत्मा के उपयोग का आलंबन-ध्येय क्या हो? यह कौन सा पदार्थ है, जिसका आश्रय करने से इसमें रत्नत्रयस्वरूप धर्म की उत्पत्ति होती है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि संसारी जीव ने संसार की परिपाटीस्वरूप और सबकुछ किया, मात्र अभी तक अपने एकत्व को नहीं प्राप्त किया—नहीं अनुभवा। आगे वे लिखते हैं कि मैं स्वविभव से उस एकत्व का दर्शन कराऊँगा। वह स्वविभव क्या है, इसका खुलासा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि जो आगम, गुरु उपदेश और युक्ति से पुष्ट हुआ है, ऐसे स्वानुभव प्रत्यक्ष से उस एकत्व के दर्शन कराने की यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिज्ञा की है। आगे ज्ञायकस्वरूप एकत्व को सब प्रकार के व्यवहार से अछूता बतलाते हुए कहते हैं कि जो ऐसे आत्मा को देखता है—अनुभवता है, वह पूरे जिनशासन को अनुभवता है। यही ज्ञानानुभूति है, यही आत्मानुभूति है और जिनशासन की अनुभूति भी यही है। स्पष्ट है कि जिसमें किसी प्रकार के विकल्प का प्रवेश नहीं, ऐसा निर्विकल्प चिच्चमत्कारस्वरूप विज्ञानघन आतमा ही एकमात्र ऐसा आलंबन, सहारा, ध्येय या आश्रय है जो इस आतमा के उपयोग का विषय होकर स्वयं समयसार हो जाता है। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार में इसे कारणपरमात्मा कहते हैं, सो उसका तात्पर्य भी यही है।

'निश्चयनय से देखा जाये तो वह चैतन्य एक ही है। उस अखंड एक वस्तु में विकल्पों को अणुमात्र भी स्थान नहीं। जो कर्म, नोकर्म और विकारी भावों से रहित ऐसे उत्कृष्ट एकरूप ब्रह्म को जानता है—बोधस्वरूप आत्मा को अनुभवता है, वह तत्स्वरूप हो जाता है।'

ये आचार्य पद्मनंदि के वचन हैं। सो इससे भी यही ज्ञात होता है कि स्वरूपोपलब्धि के लिए अभेदस्वरूप सब प्रकार के विशेषणों से रहित एकमात्र आत्मा ही आश्रय करनेयोग्य है। इस अखण्ड ज्ञानघनस्वरूप आत्मा का आश्रय करने पर—तत्स्वरूप आत्मा को अनुभवने पर आत्मानुभूतिरूप परिणत वह स्वयं सम्यग्दर्शन है, वही स्वयं सम्यग्ज्ञान है ओर वही स्वयं सम्यक्चारित्र है।

ये प्रकृत में उपयोगी कुछ तथ्य हैं। आगे इनको लक्ष्य में रखकर साध्य-साधकभाव का विचार करना है। यहाँ साध्य न तो देवेन्द्रपद की प्राप्ति है और न चक्रवर्तीपद की प्राप्ति ही; इस आत्मा का यदि कोई सच्चा साध्य है तो एकमात्र विकारी भावों से रहित आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही है। पूर्व में जिन चार प्रश्नों का खुलासा किया है, उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग तो कहनेमात्र के लिये मोक्षमार्ग है; एकमात्र निश्चयमोक्षमार्ग ही सच्चा मोक्षमार्ग है। और उसकी उत्पत्ति त्रिकाली ज्ञायकभाव को लक्ष्य में लेने पर होती है, इसलिए आत्मस्वभाव की प्राप्ति का यदि कोई यथार्थ साधन है तो वह त्रिकाली ज्ञायकभाव ही है, क्योंकि पर को और पर्याय को लक्ष्य बनाकर जो अभी तक राग-द्वेष और मोह की उत्पत्ति होती आ रही थी। वह न हो, यदि इसका कोई सच्चा उपाय है तो एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लेना ही है। यह निश्चय साधन है। इसके सिवा अन्य सब व्यवहार साधन हैं।

शंका-साधन कहो या उपादान, इन दोनों का एक ही अर्थ है और आगम में पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य को उपादान कहा है। ऐसी अवस्था में केवल त्रिकाली ज्ञायकभाव को स्वरूप प्राप्ति का निश्चय साधन कहना ठीक नहीं है। पंचास्तिकाय गाथा १५४ की टीका में मोक्षमार्ग के स्वरूप का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि जीवस्वभाव में नियत चारित्र का नाम मोक्षमार्ग है और यथार्थ में जीव स्वभाव ज्ञान-दर्शन है। सो इससे भी यही विदित होता है कि न केवल सामान्य अंश से कार्य की उत्पत्ति होती है और न केवल विशेष अंश से ही, अतएव सर्वत्र साधन का निर्देश करते समय विवक्षित पर्याययुक्त द्रव्य का ही निर्देश करना चाहिए, एक अंश का नहीं।

समाधान-यह ठीक है कि कार्य का उपादान न केवल सामान्य अंश होता है और न केवल

विशेष अंश ही, क्योंकि तादात्म्यरूप से ही इनकी सत्ता परिलक्षित होती है। कहा भी है—'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय:।' इसलिये द्रव्य के केवल एक अंश से कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा यहाँ कहना नहीं है। किंतु यहाँ कहना यह है कि जीव की संसार और मुक्त ये दो अवस्थाऐं हैं। उनमें से संसार की उत्पत्ति निमित्त और पर्याय के लक्ष्य से होती है और मोक्ष की उत्पत्ति स्वभाव के लक्ष्य से होती है। इसलिये मोक्ष का यदि कोई मुख्य साधन है तो वह एकमात्र स्वभाव को लक्ष्य में लेना ही है। जब यह जीव स्वभाव को लक्ष्य में लेता है, तब कार्य तो उपादान के अनुसार ही होता है, इसमें संदेह नहीं। परंतु स्वभाव को लक्ष्य में लेने से उपादान स्वभाव की ओर ढलकर नियम से स्वभावपर्याय को ही उत्पन्न करता है, ऐसा नियम है।

यही कारण है कि प्रकृत में पर्याययुक्त द्रव्य को साधन न कहकर परमपारिणामिकभाव को ग्रहण करनेवाले निश्चयनय की मुख्यता से द्रव्य के एक अंश त्रिकाली ज्ञायकभाव को यथार्थ साधन काह है। पर्याय और निमित्त का लक्ष संसार का साधन है और स्वभाव का लक्ष मोक्ष का साधन है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। स्वभावरूप अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव का आलंबन लेने पर यह आत्मा सवयं स्वभावरूप परिणम जाता है। इसलिए वही एक आत्मा साध्य है और वही साधन है।

यह जिनागम का सार है। इसे ध्यान में रखकर विचार करने पर विदित होता है कि अन्यत्र (पंचास्तिकाय गाथा १६०-१६१ में) जो व्यवहाररत्नत्रय को साधन और निश्चयरत्नत्रय को साध्य कहा है, सो उस कथन का इतना ही तात्पर्य है कि जिसने अनादि अज्ञान का नाश कर शुद्धि का अंश प्रगट किया है, ऐसे जीव के सविकल्पदशा में भूमिकानुसार नि:शंकित-नि:कांक्षित आदि रूप, स्वाध्याय पूजादिरूप और निरतिचार व्रतादिरूप भाव होते हैं तथा तदनुरूप व्यापार भी होता है, पर इससे प्राप्त आंशिक शुद्धि की कोई क्षति नहीं होती। इसलिए व्यवहारनय से व्यवहारमोक्षमार्ग को साधन और निश्चयमोक्षमार्ग को साध्य कहने में आता है। पर इसका अर्थ यदि कोई यह करे कि पूजा, स्वाध्याय और व्रतादि परिणाम करते-करते आत्मा में स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति हो जायेगी तो उसका ऐसा अर्थ करना समीचीन नहीं है। अज्ञानभाव का अभाव होकर शुद्धि की उत्पत्ति या वृद्धि का क्रम यह है कि जब यह जीव पूजा, स्वाध्याय, और व्रताचरणरूप विकल्प से निवृत्त हो, शुद्ध निश्चयनय से विषयभूत ज्ञायकस्वरूप एकत्व का पुन: पुन: मनन करता है तो अंत में यह विकल्प भी छूटकर उपयोग स्वयं ज्ञायकभावरूप परिणम जाता है। इसी का नाम नयपक्ष से अतीत

निर्विकल्प समाधिरूप अवस्था है। इसे भेददृष्टि से देखने पर आत्मरुचि का नाम सम्यग्दर्शन है, आत्मज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्थिति का नाम सम्यक्चारित्र है। किंतु अभेददृष्टि से देखने पर उन तीनमय स्वानुभूतिरूप से परिणत एक आत्मा ही है। स्पष्ट है कि स्वरूपोपलब्धि में आत्मा ही साधन है और आत्मा ही साध्य है, अन्य सब व्यवहार है। अतएव मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि के लिए एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव आत्मा ही उपादेय है, ऐसा यहाँ श्रद्धान करना चाहिए।

१० प्रश्न..... १० उत्तर

१— पंडित कौन है ?

जो चैतन्य विद्या में प्रवीण हैं, वे ही सच्चे पंडित हैं।

२— मोक्ष का कारण क्या है ?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव, वह मोक्ष का कारण है।

३— वह मोक्षमार्ग कैसा है ?

सम्यक्त्वादिरूप मोक्षमार्ग है, वह ज्ञानमय है।

४— कर्म कैसा है ?

शुभ या अशुभ जो भी कर्म है, वह सब मोक्षमार्ग से विपरीत है। ज्ञानी के महाव्रतादिक के शुभराग भी मोक्षमार्ग नहीं है, कारण कि वीतरागभाव से विरुद्ध भाव है।

५— मोक्षमार्ग में काहे का निषेध है ?

समस्त कर्मों का अर्थात् समस्त बंधभावों का मोक्षमार्ग में निषेध है।

६— शुभराग के आश्रय से मोक्षमार्ग क्यों नहीं होता ?

शुभराग स्वयं बंधस्वरूप है और मोक्षमार्ग से प्रतिकूल है, तो उस बंधभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग कैसे होगा ? शुभराग के आश्रय से लाभ मानकर जो अटक रहा

है, उसे उस राग का निषेध करनेवाला तो कोई रहा नहीं, राग से पृथक् ज्ञान तो उसके रहा नहीं, राग में ही तन्मयता से उसको मिथ्यात्व हुआ... और मिथ्यात्व हो, वहाँ मोक्षमार्ग कहाँ से होगा ? मिथ्यात्व तो मोक्षमार्ग का घातक है।

७— मिथ्यादृष्टि जीव कैसा है ?

मिथ्यादृष्टि जीव विपरीत अभिप्राय से चैतन्य का घात करनेवाला है।

८— सच्चा जीवन कौन जीता है ?

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा चैतन्य के आश्रय से ज्ञान-आनंदमय सच्चा जीवन जीता है। ज्ञान, वह आत्मा का जीवन है। उस ज्ञानमय परिणमित होनेवाला ही सच्चा जीवन जीता है। अहा, ऐसा जीवन अनंतकाल में इस जीव ने कभी नहीं जिया। अज्ञान से भावमरण करके मरा है। भेदज्ञान करे, तभी सच्चा जीवन प्रगट हो।

९— मोक्षार्थी को अर्थात् चैतन्य की शीतलता के अभिलाषी को क्या करना योग्य है ?

मोक्षार्थी को समस्त कर्म त्यागने योग्य है और एक ज्ञानस्वभाव का ही आश्रय करके, अंतर में गहराई तक उतरकर ज्ञानमयभाव से परिणमित होना योग्य है; उस ज्ञानमय परिणमन में चैतन्य की परम शीतलता का अनुभव होता है।

१०— ऐसे ज्ञानमय परिणमन का प्रारम्भ कब होता है ?

गृहस्थदशा में स्थित सम्यग्दृष्टि को भी अंतर्मुख प्रयत्न द्वारा चैतन्य के अवलंबन से ज्ञानमय परिणमन प्रारम्भ हो गया है। सम्यग्दर्शन भी ज्ञानमय परिणमन है, उसमें राग का किंचित् आश्रय नहीं है। ऐसा ज्ञानमय परिणमन, वह निष्कर्म है और वही मोक्ष का साधन है।

साध्य-साधन का सुमेल

(श्री पंचास्तिकाय गाथा १७२ पर पूज्य स्वामीजी का राजकोट में प्रवचन; तारीख ५-५-६२)

निश्चय सम्यग्दर्शन और भेदज्ञानसहित अतीन्द्रिय ज्ञातादृष्टा स्वभाव में स्थिरता की शांति द्वारा प्रतापवंत वर्तन करना, वह तप है। शुभाशुभ इच्छा के निरोधरूप निर्विकारदशा से यह आत्मा सुशोभित होता है। अंतर में शांतरस में-निराकुल आनंद में सावधानी से वर्तना, वह तप है। भगवान महावीर तथा अनंत साधक धर्मात्मा हो गये, उन्होंने उपरोक्त तप किया। बाह्य में भोजन नहीं ग्रहण करने का विकल्प, वह तप नहीं है, किंतु वीतरागी दृष्टि होने पर शुभाशुभ इच्छा के निरोधरूप स्वरूप में शांतिपूर्वक स्थिर रहना, वह तप है, और जब स्थिरता न हो सके, तब उपवासादि का विकल्प आता है, वह हठरहित का शुभराग है, **वह धर्म नहीं है, तथापि उसको व्यवहारतप गिनने में आता है।** अंतर में अभेदस्वरूप को लक्ष्य में लेकर, निर्विकार शांतभाव में स्थिर रहकर, स्वरूप में विश्रांति लेना, यह निश्चय तप है, उससमय बाह्य में शुभभाव-उपवासादि क्रिया देखी जाती है, वह व्यवहार तप है। ऐसा निश्चय व्यवहार का सुमेल नहीं होता है, वह जीव अंतर में ज्ञाता-दृष्टारूप से न रहकर रागी होकर पराश्रय में प्रीति और उत्साह सहित बाह्य क्रियाकांड की धमाल में ही प्रवर्तन करता है, जैसे कि तीर्थक्षेत्र की महिमा, यात्रा, देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति, मंद कषायादि करे, क्षमाभाव रखे। शास्त्रादि के आलंबन से नि:शंकितादि आठ आचार जो निश्चय के बिना मात्र व्यवहाराभास ही है, उनका पालन करने में तत्पर रहता है, विनयादि ज्ञानाचार-पंचमहाव्रतादि व्यवहाराभासरूप से इस चारित्राचार का पालन आदि में प्रवर्तन करता है। किंतु इन शुभरागादि से पार निरपेक्षज्ञानमात्र हूँ, ऐसा भान या अनुभव न करे तो उपरोक्त तप उसीप्रकार व्रतादि आचार को सर्वज्ञ भगवान ने बालव्रत कहे हैं। प्रतिकूल संयोगों के कारण जीव को दु:ख होता है, ऐसी मान्यता मिथ्या है। जैन मुनियों को चारित्र पालन करने में कष्ट (दु:ख) होता है, ऐसा माननेवाले को नवतत्त्व अथवा शुद्धभावरूप संवर-निर्जरा अर्थात् मोक्षमार्ग का स्वरूप क्या है, उस संबंधी किंचित् भी ज्ञान नहीं है। मुनिदशा का चारित्र दु:खरूप नहीं है, जैसे अंधकार का अभाव ही प्रकाश है; वैसे शुभाशुभ इच्छा-आकुलतारूप दु:ख, उसका जितने अंश में अभाव, वही सच्चा-सुख है। मुनि का चारित्र अत्यंत निर्मल नित्यानंद स्वरूप के आश्रित होता है, इसलिए शुभाशुभ इच्छा निरोधरूप और शुद्ध स्वरूप में निस्तरंग प्रतापवंत होना, वही तप है, मुनित्व है-मोक्षमार्ग का

चारित्र है। अतः वह चारित्र सुखरूप ही है। ज्ञानी, संयोग के कारण राग-द्वेष, सुख-दुःख होता है- ऐसा नहीं मानते। पर जीव को देखकर राग आता है, तब वे ऐसा मानते हैं कि उस जीव के कारण मुझे राग नहीं आया, परंतु मेरी कमजोरी के कारण से राग आया है। वे किसी भी प्रकार का राग करने योग्य है - ऐसा नहीं मानते। रागादि से भिन्न चिदानंद मूर्ति ज्ञाता ही हूँ, उसमें एकता की दृष्टि और ज्ञानसहित वर्तन करते हैं, इसलिये अपने विरागी स्वभाव के आश्रय से एकाग्रता और शांति के अनुभवानुसार जितनी वीतरागता प्रगट होती है, उतना ही धर्म है।

इस ग्रंथ के कर्ता तथा टीकाकार मुनिराज जंगल में रहकर, अतीन्द्रिय आत्मरस में लवलीन होकर, अमृत का पान करते थे, और जगत को भी अमृत परोसा है। धर्म का मूलकारण अर्थात् सच्चा कारण उनका आत्मा और आत्मा में स्वसन्मुखता ही है, इस पर जिसकी दृष्टि नहीं है, सच्चा मोक्षमार्ग एक ही है, ऐसा ज्ञान नहीं है, वे संयोग और शरीर की क्रिया में ही अटक जाते हैं; इससे अधिक होवे तो परलक्ष्य से मंदकषायरूप शुभभाव में अटक जाता है। संयोग और राग के (व्यवहार के) आश्रय से अंतर स्वभाव की महिमा तथा विश्वास नहीं आयेगा।

अरे! इसमें एकेन्द्रियादि जीव हैं, चमड़े को नहीं छूना चाहिये, इसको स्पर्शी हुई वस्तु काम में नहीं आयेगी और ऐसा होवे तो काम में आयेगा, इस प्रकार जो विकल्प की जाल है, उसमें धर्म मानकर अटके हैं, उस कर्मकांड के आलंबन में यदि शुभभाव होवे - कषाय मंद होवे तो पुण्य होता है किंतु वह शुभास्रवरूप कर्मकांड की धमाल है, उसमें धर्म नहीं है।

कोटि जन्म तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥

ज्ञानी और अज्ञानी के प्रयोजन में हरेक प्रकार से फरक (अंतर) है। 'आनंद पूछत परमानंद को मानव मानव में फेर, एक रत्नों से भी ना मिले एक तो टकाके तेर।'

अज्ञानी जीव की शरीर की क्रिया और शुभारागरूप व्यवहार के ऊपर ही दृष्टि होने से वह उसकी महिमा किया करता है, लेकिन मोक्षमार्ग में उसकी किंचित् भी कीमत नहीं है।

पुण्य की क्रिया के शुभभाव को निश्चय से विषकुंभ-जहर कहा है—जहर आस्रवतत्त्व है, उसको आत्मा के संवररूपी अमृतभाव के साथ मिलाना चाहे तो मिलान नहीं हो सकता। राग की क्रिया से, शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म होता है—ऐसा माने, मनावे वह त्यागी नहीं है - किंतु धर्म का त्यागी है। पुण्य-पाप का त्यागी नहीं किंतु स्वामी होने से मिथ्यादृष्टि ही है। ऐसी परम

सत्य बात श्रवण करके, जिनको नवतत्त्वों की श्रद्धा नहीं है, वे कहते हैं कि अरे! ऐसा मानेंगे तो सगे-संबंधी, जाति-समाज से अलग हो जायेंगे, किसी के साथ मेल नहीं रहेगा। जो संयोग और शुभाशुभ विकार की भावना करनेवाला है, वह आस्रव मल की चाहना-भावना करते हैं अर्थात् आत्मा का तिरस्कार ही करते हैं।

भगवान आत्मा को पुण्य-पाप की, संयोग की अपेक्षा नहीं है। स्वयं ही नित्य ज्ञानमय अनंत शक्तियों का सागर है, इसकी महिमा जिनको नहीं है, वे राग और संयोग से ही भला-बुरा मान रहे हैं। बड़े संत, साधु, मुनि, आचार्य, विद्वान नामधारी भी देह की क्रिया से तथा भक्ति, व्रतादि के शुभराग से मोक्षमार्गरूप धर्म माने, मनावे तो वे मिथ्यादृष्टि ही हैं। राग के कारण से वीतरागता प्रगट होगी, ऐसा माने वह राग का-मिथ्यात्व का दास है तथा सर्वज्ञ वीतराग का शत्रु है। दया-दान-पूजन, व्रतादि शुभ व्यवहार का निषेध नहीं किंतु उसमें मिथ्या अभिप्राय है, उसका निषेध है। मिथ्या रुचिवश वह व्रत, उपवास अथवा बाह्य त्याग में प्रवर्तन करते समय वे शुभराग में अचलित रहते हैं। अशुभभाव तो कम हुआ किंतु मिथ्यात्व किंचित्मात्र भी नष्ट नहीं होता, मिथ्यामान्यता रूप बड़ा पाप तो निरंतर चालू रखा है, शुभराग में रुचि होने से राग में ही सावधान है; आत्मा में अंशमात्र भी जागृत नहीं हुआ। जगत की विचारधारा के सामने यह अत्यंत स्पष्ट सत्य अभिप्राय है।

समाज में, बाह्य में प्रसिद्धि के लिये अथवा धर्म के नाम पर वर्षितप आदि व्रत, तप करते हैं, उसमें सच्चा धर्म मानते हैं तो क्या आत्मा का तप बाह्य में है? **तप तो निश्चय सम्यग्दर्शन और भेदज्ञानसहित अतीन्द्रिय ज्ञातास्वभाव में स्थिरता शांति के द्वारा प्रतापवंत प्रवर्तन करना तथा शुभाशुभ इच्छा के निरोधरूप निर्विकार दशा से इस आत्मा का दैदीप्यमानरूप से सुशोभित होना; अंतर में शांतरस में निराकुल आनंद में सावधानी से वर्तना, वह तप है। भगवान महावीर ने तथा अनंत साधक धर्मात्मा हो गये, उन्होंने ऐसा तप आत्मा में किया था; बाह्य में आहार न लेने का शुभराग किया, उसका नाम तप नहीं है। परंतु जिसको वीतरागता प्रगट हुई है, उसकी स्वरूप में एकाग्रता, वह निश्चय तप है** तथा किसी समय इस जाति का शुभराग आवे, वह व्यवहार तप है। जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ उसके तप को भगवान ने तप कहा ही नहीं है। **अंतर में अभेद स्वरूप को लक्ष्य में लेकर, निर्विकार शांतभाव में स्थिर होना, स्वरूप में विश्रांति, लेना उसका नाम सच्चा तप है।**

बाह्य में, देह की क्रिया में, शुभ विकल्प में धर्म माने, वह अज्ञानी है। नववें ग्रेवेयक में

जानेवाले को गृहीत मिथ्यात्व तो नहीं होता, शुक्ललेश्या का उज्ज्वल शुभभाव होता है तथा अतिचारादि दोषरहित महाव्रतादि २८ मूलगुण यथार्थ होते हैं, तथापि उसको धर्म नहीं हुआ, **इस काल में तो ऐसे शुभभाव किसी के नहीं होते। अनंत बार ऐसे उत्कृष्ट शुभभाव करनेवाले को धर्म नहीं हुआ तो इस काल के स्थूल शुभराग से धर्म किसप्रकार हो सकता है? इस काल में निश्चय सम्यग्दर्शन और आंशिकरूप में वीतरागता तो प्रगट हो सकती है।** वर्तमान में तो आगमानुसार २८ मूलगुण तथा यथार्थ श्रद्धाज्ञान सहित भी देखने में नहीं आते।

यह काल इतना तो उत्तम है कि ऐसी अपूर्व बात-सूक्ष्म बात प्रेमपूर्वक श्रवण करने के लिये, समझने के लिये बहुत लोग तैयार हुये हैं।

अंतरंग में शुद्ध उपादान की दृष्टि नहीं, स्वाश्रय से वीतरागता किसप्रकार प्रगट होती है, उसका ज्ञान नहीं, वे पराश्रय में प्रीति और उत्साहरूप क्रियाकांड की धमाल में अखंडपना रखते हैं—अर्थात् (१) कभी किसी विषय की रुचि करते हैं—तीर्थक्षेत्र की महिमा, यात्रा, देव, शास्त्र, गुरु, भक्ति वगैरह। (२) कभी किस संबंधी विकल्प करता है। और (३) कभी कुछ आचरण करता है; जैसे कि व्यवहार-दर्शनाचार के लिये-वे कदाचित् प्रशमित होते हैं, पराश्रय की दृष्टि होने से मंद कषाय करे, शांतभाव रखे, कभी संवेग को प्राप्त होवे, अनुकंपित होवे अथवा आस्तिक्य धारण करे; शास्त्रादि के आलंबन से निःशंकित, निःकांक्षितादि आठ आचार जो निश्चय के बिना मात्र व्यवहाराभासरूप से ही है, उनका पालन करते हैं, विनय, बहुमान सहित शास्त्र का योग्यकाल में पठन करना, (२) उपधान (३) बहुमान (४) अनिह्नव (५) अथशुद्ध व्यंजनशुद्ध और तदुभय सहित ज्ञानाचार का पालन करते हैं; पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति, इस चारित्राचार का व्यवहाराभासरूप से पालन करता है। बारह प्रकार के बाल तपाचार का पालन करता है, क्रियाकांड में ही उत्साह से उद्यमवंत वर्तता है; **परंतु रागादि भेद से पार निरपेक्ष ज्ञानमात्र हूँ, इसका भान और अनुभव नहीं करता।**

परजीवों को दुःख नहीं होवे, ऐसी करुणा वह शुभराग है। संयोग को इष्ट अनिष्ट माने, प्रतिकूल संयोग के कारण जीव दुःखी है, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की होती है। देह में एकता बुद्धि सहित की उस करुणा को दर्शनमोह का चिह्न कहा है। परजीव को दुःखी देखकर कम्पित परिणाम होवे वह शुभराग है; उस शुभराग को वास्तव में धर्म माने, धर्म का कारण माने, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को करुणा का राग आता है किंतु वह संयोग के कारण से नहीं परंतु सामने के जीव को मोह अज्ञान से दुःख होता है, ऐसा जानकर, अपनी कमजोरी के कारण राग आता है - ऐसा जानते हैं।

राग को दोष ही मानते हैं। **जगत के अभिप्राय के साथ ज्ञानी की परमार्थतत्त्व की बात का मिलान नहीं होता।**

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य, निन्दा, गर्हा, भक्ति ये तो शुभराग हैं। यदि सम्यग्दर्शन होवे तो उसके ये बाह्य लक्षण हैं।

परजीव सत्‌रूप वस्तु है, उसके साथ उसके शरीर का संयोग उसकी आयु तक ही रहता है; उसके शरीर का वियोग करना, रक्षण करना किसी के आधीन नहीं है। मैं पर जीव को मार सकता हूँ - जीवित कर सकता हूँ; रक्षण कर सकता हूँ - ऐसा मानता है। वह दो द्रव्यों की एकता-बुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है। परजीव की दया-अहिंसा का भाव ज्ञानी को भी आता है, वह पुण्य है, धर्म नहीं। मैं चिदानंद मूर्ति ज्ञाता ही हूँ, ऐसा भान होवे और अपने अखंड स्वभाव के आश्रय से एकाग्रता और शांति का अनुभवरूप वीतरागता प्रगट होवे, उसका नाम परम अहिंसा धर्म है; बाह्य में हिंसा या अहिंसा नहीं है।

धर्म प्रभावना का खास प्रसंग

इंदौरनगर में—अषाढ़ सुदी ८ से सिद्धचक्र मंडल विधान के उपलक्ष्य में सोनगढ़ के प्रतिनिधि श्री बाबूभाई फतेपुर निवासी को आमंत्रित किये जाने पर, वे दिनांक १७-७-६४ को इंदौर पधारे। माधव वस्तिका में इंदौर की जैन जनता द्वारा करीब सैंकड़ों की संख्या में उपस्थित रहकर आपका हार्दिक एवं भावभीना तथा अत्यंत उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया। यह हर्ष का विषय रहा कि— श्री बाबूभाई के साथ में फतेपुर तथा दाहोद से भी मुमुक्षुगण पधारे। श्री बाबूभाई द्वारा तीन दिन तक अनवरत प्रातःकाल में भक्ति, प्रवचन; दोपहर में तत्त्वचर्चा; सायंकाल भक्ति एवं प्रवचन में निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, क्रमबद्धपर्याय एवं वस्तु की स्वतंत्रता का वर्णन जिन सब सजीव एवं रोजमर्रे के उदाहरणों के साथ अत्यंत गहराईपूर्वक शास्त्रोक्त प्रमाणों के आधार पर अत्यंत विनम्र किंतु निर्भक वाणी द्वारा किया गया, उसने जनता में फैली अनेक प्रकार की भ्रांतियों को ही जड़मूल से नष्ट नहीं किया, अपितु उनकी स्पष्ट एवं विशदपूर्वक वर्णन करने की विशिष्ट शैली ने जनता को कुछ इस अनुभूति से भर दिया कि विद्वान, आबाल-बुद्ध, शिक्षक, युवकगण,

वकील, डॉक्टर प्रभृति लोगों ने एक स्वर से अपने आपको आत्मविभोर हो यही कहा कि—इस अभूतपूर्व वाणी ने हमारे हृदय कपाट खोल दिये। मानों जादूवश इंदौर एवं आसपास की जैन एवं अजैन जनता ने निश्चित समय पर भक्ति एवं प्रवचनों में उत्साहपूर्वक तथा लगन के साथ योग दिया तथा अपने आपको धन्य माना। सक्कर बाजार में मारवाड़ी दिगम्बर जैन मंदिर में स्थान की कमी होते हुए भी भक्ति के समय करीब १५०० जन समुदाय भीड़ाभीड़ उपस्थित हो जाता तथा सड़क पर भी खड़े होकर भक्ति को सुनता। प्रवचन की भीड़ तो इतनी होती थी कि—इस बाजार के निवासी एवं अन्य लोग यह कहते हुये सुने गये कि पिछले ५० वर्षों में भी इस बाजार में इतने लोग किसी भी पर्व या उत्सव में इतनी संख्या (करीब दस हजार में) एकत्रित नहीं हुए।

श्री बाबूभाई की प्रवचन की अपनी विशिष्ट शैली तो है ही कि—जिसके द्वारा अत्यंत सरल वाणी से अत्यंत क्लिष्ट विषय को भी सरल तरीके से रखने की उनमें अभूतपूर्व क्षमता है। जनता को मानों उनकी वाणी एवं अनुभूति खींचे चली जाती थी। उनकी वाणी ने अनेक विषमताओं, मिथ्या धारणाओं एवं मान्यताओं को ढहा दिया।

अंतिम दिन तारीख १९-७-६४ को जो जुलूस निकाला गया, उसमें अत्यधिक संख्या में जैन जनता ने योग दिया तथा अतीव प्रभावना हुई। जुलूस में श्री बाबूभाई द्वारा भक्ति एवं नृत्य किये गये तथा उनकी सादगी एवं सरलता ने जनता को कुछ इस तरह मोह लिया कि उनके साथ-साथ जनता बही चली जा रही थी। जहाँ श्री बाबूभाई का उज्ज्वल चरित्र तथा तात्त्विक, निर्भीक किंतु सरल वाणी अपरिमेय थी, वहाँ उनकी भक्ति एवं नृत्य द्वारा जिनेन्द्र भगवान की भक्ति अपूर्व ही असरकारक तथा एक प्रवाह को उत्पन्न करनेवाली थी। लोग जगह-जगह यह कहते हुए पाये गये कि इतने उद्‌भट विद्वान में इतनी सरलता एवं भक्ति तथा समर्पणता का मिश्रण आश्चर्यजनक लगता है। श्री बाबूभाई के कारण इस ओर की जनता में जो अभूतपूर्व क्रांति हुई है, उससे लगता है कि यदि श्री बाबूभाई का सानिध्य इस ओर मिलता रहा तो यहाँ की जनता में से मिथ्या मान्यताएँ ढहकर जैनधर्म की अभूतपूर्व प्रभावना होगी। अंतिम दिन श्री मिश्रीलालजी गंगवाल, माननीय विकास मंत्री मध्यप्रदेश शासन द्वारा भावभीने, सारगर्भित शब्दों द्वारा आभार माना गया। वह इंदौर के इतिहास में अनुपमेय है। उन्होंने श्री बाबूभाई को पंडित जवाहरलाल नेहरु की उपमा देते हुए जन-नायक की उन शक्तियों से ओतप्रोत एवं युक्त बताया, जिसमें जनता को कुछ इस तरह मोह लिया है कि वे उनके सानिध्य को बार-बार प्राप्त करने को लालायित हो उठे हैं। उन्हें पर्यूषण पर्व तथा

प्रसिद्ध बनेड़िये क्षेत्र के मेले पर पुन: पधारने के लिये इंदौर की जनता द्वारा अति आदरपूर्वक निमंत्रण दिया गया। जनता के द्वारा श्री बाबूभाई और साथ आये भाईयों का पुष्पहार द्वारा भावभीना विदायी समारोह मनाया गया, चित्र लिये गये। उन्हें विदा देने करीब रात्रि को १२ बजे बड़ी संख्या में लोग एकत्र हुए, वह इस बात का प्रतीक था कि—श्री बाबूभाई ने इंदौर की जनता के हृदय में कितना घर कर लिया है।

विनीत—रतनलाल गंगवाल

विज्ञप्ति

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) की कार्यवाहक कमेटी की मीटिंग सोनगढ़ में मिती भाद्रपद वदी १५, संवत् २०२१ तारीख ६-९-६४ रविवार के दिन होगी हर एक सभ्यों से उपस्थित रहने की नम्र प्रार्थना है।

—श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल सोनगढ़ की वार्षिक सामान्य सभा सोनगढ़ में भाद्रपद सुदी १, तारीख ७-९-६४ सोमवार को दोपहर में ४.०० बजे होगी। अत: प्रत्येक गाँव के मंडल के प्रतिनिधियों एवं सोनगढ़ के स्थाई मुमुक्षु भाईयों से उपस्थित रहने की खास नम्र विनंती है। यह सभा आवश्यक होने से अवश्य पधारियेगा।

मंत्री—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
अंतर्गत—श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

धर्म प्रभावना समाचार

उज्जैन—श्री पंडित बाबूभाई (फतेहपुर गुजरात) इंदौर, खंडवा अष्टाह्निका पर्व पर पधारे थे, और बड़े भारी महोत्सव आपके आने से वहाँ बन गये, ठीक ऐसा ही हमारे यहाँ हुआ। दो दिन के लिये तारीख २५-७-६४ को ही बाबूभाई का आगमन हुआ सवेरे समयसार कर्ता-कर्म अधिकार पर प्रवचन मोहन टाकीज हॉल में, दोपहर में प्रवचन और भक्ति स्वाध्याय, मंदिर व चैत्यालय (क्षीर सागर) में, रात्रि को प्रवचन तथा भक्ति नमक मंडी दिगम्बर जैन मंदिर में, तारीख

२६ को भी इसीप्रकार तथा रात्रि का प्रवचन तथा जिनेन्द्र भक्ति फ्रीगंज पंचायती दिगम्बर जिन मंदिर में हुआ था। आपके अध्यात्मरस ओतप्रोत सरल मधुर प्रवचनों को सुनकर आबाल वृद्ध मंत्रमुग्ध हो जाते थे। सर्वत्र ऐसी ही ध्वनि सुनाई पड़ती थी कि न तो ऐसे प्रवचन कभी सुने, न ऐसी भाव भरी भक्ति कभी देखी। तारीख २६ को एक विशाल रथयात्रा जुलूस क्षीर सागर चैत्यालय से निकाला, हजारों की संख्या ने भाग लिया। जुलूस में इंदौर की भजन मंडली के मधुर गीतों एवं श्री बाबूभाई की भक्ति की धुन ने दर्शकों को मंत्रमुग्ध बना दिया। इस सब कार्यक्रम में भाग लेने के लिये दाहोद-इंदौर, महिदपुर, बड़नगर से मुमुक्षुगण पधारे थे। प्रत्येक प्रवचन एवं भक्ति के समय स्थान खचाखच भर जाता था, वृद्धों का कहना था कि ऐसा कार्यक्रम एवं जुलूस वर्षों में नहीं देखा।

जाझरमल, अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
उज्जैन

सूचना

दक्षिण यात्रा प्रसंग में जिन्होंने चंदे में रुपया लिखवाया है, वे शीघ्र निम्न पते पर भेज दीजियेगा। चैक, ड्राफ्ट या मनी आर्डर—'खीमचंद जेठालाल शेठ एण्ड अदर्स' के नाम से भेजने की प्रार्थना है।

निवेदक—यात्रा संघ व्यवस्था कमेटी
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सुवर्णपुरी समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशांति से विराजमान हैं, ललितपुर दिगम्बर जैन उदासीनाश्रम के सब त्यागीगण समागमार्थ पधारे हैं, श्रावण बदी १ वीर प्रभु की दिव्यध्वनि-शासन जयंती अच्छी तरह मनाई गई। अष्टाह्निका पर्व भी हर साल माफिक मंडल विधान पूर्वक अच्छी तरह मनाया गया।

शुभ-सूचना

भाद्रपद मास में दशलक्षणधर्म पर्व पर प्रवचनकार की आवश्यकता हो तो अपने यहाँ की संस्था द्वारा पत्र लिखें:—

पता—
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल प्रचार कमेटी
द्वारा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

दसलक्षणी पर्यूषण पर्व

भाद्रपद सुदी ५ तारीख ११-९-६४ से भाद्रपद सुदी १४ तक तथा क्षमावाणी पर्व बदी १ को मनाया जावेगा। उन दिनों में मंडल विधान सहित जिनेन्द्र पूजायें, दशलक्षण धर्म, पद्मनंदीपंचविंशति या स्वयंभू स्तोत्र पर प्रवचन तथा जिनेन्द्र भक्ति आदि का विशिष्ट कार्यक्रम रहेगा।

नया प्रकाशन

योगीन्द्रदेव आचार्य योगसार दोहा, और भैया भगवतीदासजी तथा कविवर श्री बनारसीदासजी कृत निमित्त-उपादान दोहा, तत्त्वज्ञान समझने में तथा याद करने में बड़ी सुगम और रोचक होने से थोक मंगाकर सभी जिज्ञासुओं में बांटने योग्य है, नित्य स्वाध्याय करने योग्य है। बहुत बड़े टाइप व बढ़िया कागज में छपा हुआ है। पृष्ठ २४, मूल्य ०-१२ नये पैसे पोस्टेज अलग।

मंगाने का पता—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षाशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) तीसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांत पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़नेयोग्य है, पत्र संख्या ९००, मूल्य लागत से बहुत कम मात्र ५) रखा गया है। पोस्टेज आदि अलग।

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका (चतुर्थ आवृत्ति)

१८००० बुक छपकर बिक चुकी हैं, समाज में धर्म जिज्ञासा का यह नाप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्ग दर्शक प्रवेशिका है। जैन जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में नि:संकोच बांटने योग्य है। इंगलिश भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यंत स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यकीय बातों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, सुंदर आकार पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य-सिर्फ २५ नये पैसे, पोस्टेजादि अलग।

पता:—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।